जैन विद्या

भाग-४

(जैन विद्या विशारद द्वितीय वर्ष के लिए

स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक)

सम्पादक

मुनि सुमेरमल 'सुदर्शन'

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं : (०१५८१) २२६०८०, २२४६७१

Books are available online at
https://books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूं
उन्नीसवां संस्करण : अक्टूबर ()
मूल्य : तीस रुपये मात्र

JAIN VIDYA BHAG - 4 by Muni Sumernal Sundrshan रु 50/

प्रकाशकीय

बाल्यावस्था जीवन की स्वर्णिम बेला है। इस अवस्था में जो संस्कार पड़ जाते हैं, भावी जीवन पर उसका अमिट प्रभाव रहता है। संस्कारों का मुख्य कारण संगति एवं पाठ्य-सामग्री है। यदि सत्-संगति व सत्-पाठ्यक्रम सामग्री का संयोग रहे तो बालक में जो संस्कारों के अंकुर उगेंगे, वे निर्मल और सात्त्विक होंगे। यदि इस ओर विपरीतता रही तो उसका जीवन सुसंस्कृत नहीं रहेगा। आज के विद्यार्थियों का उदाहरण हमारे सामने है। आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षा के अभाव के कारण विनय, शालीनता एवं अनुशासन जैसी सद्वृत्तियां उनमें दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है। अतएव सबसे अधिक आवश्यक है, बालकों की सुकुमार बुद्धि में इन सद्गुणों को भरने का प्रयास किया जाय। क्योंकि जैसा उनका जीवन होगा, समाज और राष्ट्र का स्वरूप उससे भिन्न नहीं हो सकेगा। यह हर्ष का विषय है कि आज समूचे राष्ट्र का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है।

तत्त्व-ज्ञान में रूचि रखने वालों से यह छिपा नहीं है, जैन-दर्शन और साहित्य भारत की संयम प्रधान संस्कृति का अन्यतम अंग है। भारतीय वाङ्मय में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी शिक्षाएं जहां एक ओर उच्चतम त्याग और तपस्या के पथ का निर्देशन कराती है। वहां नागरिक जीवन के सन्निर्माण में भी उनका बहुत बड़ा उपयोग है। उसके तत्त्व व्यापक, असंकीर्ण और सार्वदेशिक है, जो जन-जन को जीवन-विज्ञान का सही बोध कराते हैं। जिन्हें आज लोक-भाषा और

जन साहित्य में रखने की महती आवश्यकता है। गुरुदेव श्री तुलसी के निर्देशन में इसी उद्देश्य को लेकर जैन विश्व भारती, समण संस्कृति संकाय ने जैन विद्या पाठ्य पुस्तकों का निर्माण कराया है।

प्रस्तुत पुस्तक जैन विद्या विशारद द्वितीय वर्ष के लिए निर्धारित पाठ्य पुस्तक है, पुस्तक के संकलन व संपादन में मुनि सुमेरमलजी 'सुदर्शन' की महती भूमिका रही है, अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

जैन विद्या के अध्ययन में बालक-बालिकाओं की रूचि निरन्तर वृद्धिंगत हो, यह मंगल कामना ।

निर्देशक
समण संस्कृति संकाय
जैन विश्व भारती

विषयानुक्रम

कंठस्थ

१.	महावीर प्रार्थना		१

इतिहास

२.	युग प्रवर्तक भगवान् महावीर	मुनिश्री बुद्धमल्ल	२
३.	कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र	मुनिश्री मोहनलाल शार्दूल	८
४.	आचार्य भिक्षु : एक क्रान्तद्रष्टा आचार्य	आचार्य श्री तुलसी	१३
५.	आचार्य कालूगणी : पुण्यवान् आचार्य	मुनिश्री बुद्धमल्ल	२१
६.	तेरापंथ को आचार्य तुलसी की देन	साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभा	३०
७.	मनीषी आचार्यश्री महाप्रज्ञ	मुनिश्री दुलहराज	३७
८.	मंत्री मुनि की विशेषताएं	मुनि सुदर्शन	४५
९.	सत्यनिष्ठ बालमुनि कनक	मुनि सुदर्शन	४८
१०.	देशभक्त भामाशाह	श्री ऋषभदास रांका	५३
११.	प्रेरक-प्रसंग		५८
१२.	आदर्श श्रावक रूपचन्दजी	श्री श्रीचन्द रामपुरिया	६३
१३.	इतिहास के पृष्ठ	मुनिश्री छत्रमल	६९

सामान्य ज्ञान

१४.	मैं जैन क्यों हुआ	श्री मैथ्यु मैक्के	७६

१५. जैनों के वर्तमान सम्प्रदाय	मुनिश्री राजेन्द्रकुमार	८१
१६. जैन कला	मुनिश्री दुलहराज	८४
१७. स्याद्वाद-दर्शन	मुनिश्री बुद्धमल्ल	८७
१८. जैन मुनि की चर्या	मुनिश्री दुलहराज	९३
१९. रात्रि-भोजन और जैन धर्म	उपाध्याय अमर मुनि	९८
२०. मांस-भक्षण से हानियां	(चरित्र निर्माण भाग-१ से)	१०२
२१. मादक द्रव्य और उनसे होने वाली हानियां	प्रो. रूपचन्द	१०८
२२. प्रेक्षाध्यान : आधार और स्वरूप	आचार्यश्री महाप्रज्ञ	११२
२३. कायोत्सर्ग	आचार्यश्री महाप्रज्ञ	११६
२४. श्वास प्रेक्षा	आचार्यश्री महाप्रज्ञ	१२२

१

महावीर-प्रार्थना

महावीर तुम्हारे चरणों में, श्रद्धा के कुसुम चढ़ाएं हम ।
ऊंचे आदर्शों को अपना, जीवन की ज्योति जगाएं हम ॥

तप संयममय शुभ साधन से, आराध्य-चरण आराधन से ।
बन मुक्त विकारों से सहसा, अब आत्म-विजय कर पाएं हम ॥१॥

दृढ़ निष्ठा नियम निभाने में, हो प्राण-बलि प्रण-पाने में ।
मजबूत मनोबल हो ऐसा, कायरता कभी न लाएं हम ॥२॥

यश-लोलुपता, पद-लोलुपता, न सताए कभी विकार व्यथा ।
निष्काम स्व-पर कल्याण काम, जीवन अर्पण कर पाएं हम ॥३॥

गुरुदेव-शरण में लीन रहें, निर्भीक धर्म की बाट बहे ।
अविचल दिल सत्य, अहिंसा का,दुनिया को सुपथ दिखाएं हम ॥४॥

प्राणी प्राणी सह मैत्री हो, ईर्ष्या, मत्सर, अभिमान न हो ।
कहनी-करनी इकसार बना, 'तुलसी' तेरा पथ पाएं हम ॥५॥

प्रश्न :

१. महावीर-प्रार्थना के कोई दो पद्य लिखो।

२. महावीर-प्रार्थना का ४,५ पद्य कौन-सा है लिखो ।

३. यश लोलुपता, पदलोलुपता ...... इस पूरे पद्य का अर्थ लिखो।

२

युगप्रवर्तक भगवान् महावीर

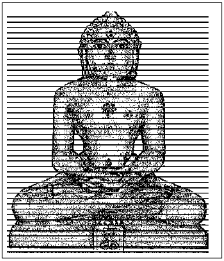

क्रान्त चरण

भगवान् महावीर एक युग प्रवर्तक एवं युग द्रष्टा पुरुष थे। उन्होंने अपने समय में बहुत क्रांतिकारी परिवर्तन किए। वह बहुत विकट और अंधकार का समय था। लोग बुरी तरह से अविद्या और रूढ़ि से ग्रस्त थे। भीषण अत्याचार उस समय चलते थे। मानवता का कोई सम्मान नहीं था। जातिवाद को खुलकर प्रश्रय मिलता था। हजारों मूक प्राणियों की बलि दी जाती थी। पशु ही नहीं, मनुष्य तक इस नृशंस कांड में घसीट लिये जाते थे और निरीह मनुष्यों की चीखते-चिल्लाते हत्या कर दी जाती थी। कोई भी उनकी करुण पुकार नहीं सुनता था, पर विस्मय की बात तो यह है कि वह भयंकर हिंसा और विडम्बना धर्म के नाम पर तथा मनुष्य के कल्याण के लिए की जाती थी। यह अंधपरम्परा काफी लम्बे समय से चली आ रही थी। लोगों में प्रतिवाद करने की शक्ति एकदम क्षीण हो चुकी थी। वे बिल्कुल असहाय और विवश थे।

महावीर ने यह हृदय-द्रावक दृश्य देखा और सुना तो उनको असह्य वेदना हुई। मनुष्यता का उत्पीड़न उनको एक गहरे अज्ञान का और आत्म शक्ति की विफलता का परिणाम लगा। इस चले आ रहे प्रवाह को मोड़ने के लिए उन्होंने पहले-पहल अपने आप को साधा और अपनी आत्मा को उद्‌बुद्ध किया। बहुत कठिन साधना के उपरांत वे अपने लक्ष्य तक पहुंचे और युगान्तकारी परिवर्तन किए। उन्होंने जनता

की अज्ञानजन्य धारणाओं को बदला और शत विरोध और विघ्न को सहकर भी चलते ही रहे, रुके नहीं। उन्होंने जो दिशादर्शन दिया, वह एकदम नया और प्राणवान् था।

हृदय-परिवर्तन का मार्ग

महावीर का विचार-दर्शन बहुत व्यापक और गहरा था। उन्होंने जीवन के प्रत्येक पहलू को तलस्पर्शी रूप से देखा। आग्रह, संकीर्णता और भेदभाव से मुक्त होकर उन्होंने चिंतन के सागर में गोता लगाया। प्राणी मात्र का कल्याण उनके सम्मुख रहा, इसलिए उन्हें गलत विचारों पर प्रहार करने पड़े और परिवर्तन का चक्कर घुमाना पड़ा । उनकी आस्था थी कि समता के बिना शांति और सुख का वातावरण नहीं बन सकता। जब तक विषमता की उच्चावच्च भूमि है, सुख का स्रोत बह नहीं सकता। उसके लिए हर जगह रुकावट है। भगवान् महावीर ने इसी असमानता को मिटाने का और चैतन्य-जागृति का महत्त्वपूर्ण काम किया था।

महावीर का परिवर्तन सत्ता और बल पर आधारित नहीं था। उनके परिवर्तन का माध्यम था हृदय । वे हृदय को ही इस प्रकार परिवर्तित करने का प्रयास करते थे कि उसके बाद मनुष्य की रीति-नीति, चाल-व्यवहार, रहन-सहन सबमें अन्तर आ जाए और वह एक संवेदनशील व्यक्ति बन जाए। उनके संसर्ग से मनुष्य की क्रूरता, अभिमान विलुप्त हो जाते थे। उनकी वाणी से धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक तीनों ही प्रकार के परिवर्तन संभव हुए ।

हिंसा का विरोध

धार्मिक परिवर्तन में उन्होंने लम्बे अर्से से चले आ रहे धर्म-भाव से किये गये प्राणीवध के प्रवाह को बदला। इस कृत्य को उन्होंने घृणित, अधार्मिक और महान् अपराध बताया। **'सव्वेसिं जीवियं पियं'** - जीवन सबको प्रिय है, मरना कोई नहीं चाहता, ऐसी हालत में

किसी के प्राणों का अपहरण करना धर्ममय कैसे बन सकता है ? यह अधर्म और अमानवीय कर्म है। इससे उपरत हुए बिना जीवन का उत्थान संभव नहीं । यह आवाज उन्होंने उच्च स्वर से उठाई थी। उनकी इस उद्घोषणा का बहुत अच्छा और गहरा असर पड़ा, तभी से लोगों ने इस जड़ मान्यता को तिलांजलि दे दी। इसलिए यज्ञादि की भयंकर हिंसा के विरोध का श्रेय भगवान् महावीर को ही है।

भगवान् महावीर किसी तथ्य के शरीर को नहीं, आत्मा को पकड़ना चाहते थे। इसलिए इस स्थूल हिंसा की रुकावट से उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्हें मानसिक और वाचिक हिंसा भी अखरी । उन्होंने कहा - 'किसी का प्राण-व्यपरोपण ही हिंसा नहीं, किसी को गाली देना भी हिंसा है। किसी को कटु वचन कहना भी हिंसा की सीमा में है। किसी के प्रति द्वेष और विद्रोह की भावना रखना भी हिंसा है। मन की सावद्य प्रवृत्ति मात्र हिंसा है, इसी तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए उन्होंने अनेकांतवाद का प्रवर्तन किया, जहां विरोधी से विरोधी में कुछ समन्वय के दर्शन होते हैं।

दास-प्रथा का विरोध

उनका दूसरा कदम सामाजिक परितर्वन का था। समाज में जो रूढ़ प्रथाएं चल रही थीं, उनको परिवर्तित करना था। दास-प्रथा, वर्ण-व्यवस्था और स्त्री-लघुता - ये तीनों ही बातें उन्हें बहुत कष्टदायक और निम्न प्रतीत हुई। उन्होंने कहा - 'मनुष्य सब बराबर है। उनको दास बनाना और उनके विकास को रोके रखना मानवता की अवज्ञा है। दूसरों की भावनाओं और उनके अधिकारों को कुचलना एक सामाजिक अपराध ही नहीं, किन्तु मनुष्य-जाति का अपमान भी है।' सामाजिक स्वस्थता और मानवीय गौरव की रक्षा के लिए दास-प्रथा के विरुद्ध उनका कदम बहुत ही महत्त्वपूर्ण था।

वर्ण-व्यवस्था का विरोध

वर्ण-व्यवस्था के विषय में भी उनके विचार बहुत ही क्रांतिकारी थे। उन्होंने कहा - 'जन्म, जाति और वर्ण के आधार पर कोई ऊंचा-नीचा नहीं होता। महत्ता और लघुता मनुष्य के आचरण पर तथा क्रिया-कलापों पर निर्भर है। तथा-कथित उच्च कुल में पैदा होकर भी जो अकार्य करता है, नाना व्यसनों में फंसता है और अनैतिक काम करता है, तो वह वस्तुतः ऊंचा और महान् नहीं है। इसी प्रकार जाति से एक साधारण परिवार में उत्पन्न होकर भी जो आचारवान् है, मर्यादाओं को वहन करता है, आत्म-धर्म के पथ पर चलता है, तो वह बड़ा और महान् है। विकार, विलास, आलस्य और शोषण आदि अवगुणों को प्रश्रय देने वाला मनुष्य कहीं भी उत्पन्न हो, वह श्रेष्ठ और ज्येष्ठ नहीं गिना जा सकता । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति परंपरा से नहीं, कर्म श्रृंखला से है। वृक्ष कहीं पर भी उगे, उसके फल-फूलों के आधार पर अपने आप उसकी उपयोगिता हो जाएगी। पर केवल उसके पर्वत पर उगने पर सार्थकता और धरातल पर उगने से निरर्थकता नहीं हो जाएगी ।' इसी प्रकार जातिवाद की जो अखंड प्रभुता चली आ रही थी, उसका सिंहासन डोल उठा, लोगों में एक नई लहर दौड़ गयी ।

नारी उत्थान

स्त्री जो कि करुणा और वात्सल्य की मूर्ति मानी जाती है तथा जगद्-जननी के रूप में जिसकी पूजा होती है, तत्कालीन समय में बहुत निम्न एवं उपेक्षित अवस्था में गिरी हुई थी। लोग उसे दासी से अधिक कुछ नहीं मानते थे। **'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' -** स्त्री स्वतंत्र नहीं हो सकती। यह उद्घोष जन-जन के मुख पर मुखरित था। उसकी धार्मिक स्वाधीनता भी अपहृत कर ली गई थी। वासना तृप्ति के अतिरिक्त कुछ अधिक उपयोग उसका नहीं माना जाता था। महावीर ने उस स्त्री-समाज को इस पतित और असहाय दशा से उबारा। यद्यपि वह समय

इस सुधार के लिए बहुत प्रतिकूल और विकट था। स्त्री को समानता का अधिकार देने में सब घबराते थे। महावीर के समकालीन बुद्ध तक इस विषय में उदासीन थे। उन्होंने अपने संघ में स्त्रियों को प्रव्रजित नहीं किया और अपने प्रिय शिष्य आनंद के अत्यंत आग्रह पर जब उन्हें दीक्षित किया तो कहा था - 'आनंद ! यह व्यवस्था मेरे संघ के आयुष्य को कम करने वाली होगी ।' वस्तुतः उनका वह कथन सत्य निकला । बौद्ध-धर्म की वज्रयान आदि शाखाएं इसका उदाहरण बन सकती हैं। पर भगवान् महावीर ने बिना किसी हिचकिचाहट व संकोच के स्त्रियों को अपने संघ में लिया था। साधुओं के समान ही उन्हें आत्म-विकास, दान और विहार आदि की स्वतंत्रता दी थी। यह उनका बहुत साहसपूर्ण कदम था। उन्होंने धर्म-संघ का संगठन इतनी कुशलता से किया था कि उसमें बौद्ध धर्म जैसी उपयुक्त कमजोरियाँ पैदा होने का अवसर ही नहीं था।

इच्छा-निरोध

उनका तीसरा कदम अर्थ क्षेत्र पर प्रभाव डालने वाला था। महावीर के विचार से आत्म-शांति भोग-सामग्री की संपन्नता पर निर्भर नहीं, उसका रास्ता तो संतोष और आत्म-संयम है। अभिलाषाओं का कहीं अन्त नहीं, उनके अनुसार चला जाये तो असफलता और क्षुब्धता ही हाथ लगेगी। संपूर्ण विश्व का ऐश्वर्य पाकर भी मन को कहीं तृप्ति नहीं होती। आग में कितना ही ईंधन डाला जाए, वह कभी तुष्ट नहीं होती। सागर में चाहे कितनी नदियां आ गिरें उसे कभी तृप्ति नहीं होती। यही अवस्था मानव-मन की है। तृष्णा आगे से आगे बढ़ती ही जाती है। इसलिए भगवान् महावीर ने इच्छा-निरोध का सबक सिखाया था और मानवीय मूल गुणों का प्रचार एवं प्रसार किया था। उसमें वे सफल भी हुए थे ।

आज के लिए

आज तो समय बहुत बदल गया है। वे प्राचीन कारण और धारणाएं दोनों ही विलुप्त प्रायः हो चुकी हैं और समाज में काफी नया मोड़ आया है। फिर भी जो जीव-हिंसा समाज में बढ़ रही है तथा खाद्याभाव के नाम पर प्रशासन उसे प्रश्रय दे रहा है, वह भारतीय परम्परा के तथा भगवान् महावीर के उपदेशों से सर्वथा विपरीत पड़ता है। इसी प्रकार अनैतिक व्यापार, रिश्वत और भ्रष्टाचार आदि भी हिंसा ही हैं। इन सबको मिटाना ही भगवान् महावीर को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करना है। अज्ञान, भ्रम, अविश्वास का वायुमण्डल समाप्त हो, मनुष्यों में उच्च विचार, विशद आचरण और स्नेहिल एवं सम व्यवहार आये यही भगवान् महावीर की वाणी है।

प्रश्न :

१. महावीर के जमाने में कौन-सी बुराइयां थी, जिनका उन्होंने विरोध किया।

२. वर्ण-व्यवस्था के बारे में महावीर के क्या विचार थे ?

३. नारी को महावीर ने अपने संघ में क्या स्थान दिया था ?

३

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र

जैन शासन में अनेक प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अपने जीवन के बलिदान और साहित्य-सर्जन से जैन शासन की अनुपम सेवा की है। आचार्य हेमचन्द्र का स्थान उनमें महत्त्वपूर्ण है। उनका जन्म-स्थल गुजरात राज्य का 'धन्धूका' ग्राम है। धन्धूका अहमदाबाद से ६० मील उत्तर-पश्चिम में भाभर नदी के किनारे बसा हुआ है। उनके पिता चाचदेव मोढ़ कुल के वणिक थे। उनका परिवार जैन धर्म का अनुयायी था। चाचदेव की पत्नी पाहिनी (चाहिणा) ने एक सुन्दर स्वप्न देखा। उस समय वहां आचार्य देवचन्द्रसूरि आए हुए थे। पाहिनी देवी ने अपने स्वप्न के सम्बन्ध में आचार्यश्री से पूछा। आचार्य देवचन्दसूरी ने कहा - 'तुम्हारा स्वप्न बहुत उत्तम है। तुम्हारे ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि करने वाला पुत्र-रत्न होगा।' कालान्तर में उसके एक लड़का हुआ। उसका नाम चंगदेव रखा गया। चंगदेव मां-बाप के वात्सल्य से बड़ा होने लगा।

आचार्य देवचन्द्रसूरि विहार करते हुए पुनः धन्धूका ग्राम में पधारे। पाहिनी भी अपने लाडले बेटे को साथ लेकर गुरु-वंदना करने लगी। आचार्य देवचन्द्रसूरि की दृष्टि चंगदेव को देखते ही अटक गयी और पुरानी स्मृति ताजा हो आयी। तत्काल पाहिनी देवी से बोले - 'बहिन ! इस पुत्र-रत्न को तुम मुझे अर्पित कर दो ।'

गुरुदेव की मांग सुनकर पाहिनी ममताभरी वाणी में बोली - 'गुरुदेव यह कैसे हो सकता है ? मेरे जीवन का आधार यह इकलौता लाल ही है।' कहते-कहते उनका कंठ रुक गया और आंखों से अश्रुधारा बहने लगी। आचार्य देवचंद्रसूरि ने उनके मोह का निवारण

करते हुए कहा - 'तुम्हारा पुत्र होनहार और विलक्षण है। इससे जैन शासन की प्रभावना होने वाली है। तुम्हारा आधारभूत पुत्र जगत् का कल्याणकारक बने, क्या तुम इसे कम महत्वपूर्ण समझती हो ?' मां ने अपने मोह को दूर कर जैन-शासन के गौरव के लिए अपने पुत्र को देवचन्द्रसूरि को सौंप दिया। आचार्यश्री ने चंगदेव को दीक्षित कर उसका नाम सोमचन्द्र रखा। सोमचंद्र की प्रतिभा अत्यन्त सूक्ष्म, प्रखर तथा प्रसरणशील थी। अल्प समय में ही उन्होंने दर्शन, आगम, न्याय, व्याकरण, छन्द आदि शास्त्रों का गहरा गध्ययन कर लिया। वे एक साथ हजार पदों को धारण (कण्ठस्थ) कर लेते थे।

ज्ञानाराधना के साथ-साथ आपने चारित्र धर्म, क्षमा, सहनशीलता, सरलता, पवित्रता, विनयशीलता आदि गुणों की भी सम्यक् आराधना की। अपने शिष्य की विशेषताओं पर आचार्य देवचंद्रसूरि प्रारम्भ से ही मुग्ध थे। उनकी विशेषताएं स्वतः उनके कार्यों में झलक रही थीं। अनुशासन व कार्य-संचालन में भी उनकी योग्यता बेजोड़ थी। आचार्यश्री ने मुनि सोमचंद्र को २१ वर्ष की लघुवय में सूरिपद (आचार्यत्व) से विभूषित कर दिया। सूरिपद देने के बाद सोमचन्द्र का नाम आचार्य हेमचन्द्रसूरि रखा गया।

आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज

हेमचन्द्र की दृष्टि अत्यन्त उदार थी। वे जैनाचार्य होते हुए भी सभी के विकास और कल्याण के लिए यत्नशील थे। उनकी विद्वता और प्रतिभा की सौरभ धीरे-धीरे गुजरात में फैलने लगी। एक बार गुजरात का राजा सिद्धराज मालव विजय करने जा रहा था। उस समय आचार्य हेमचन्द्र पास में ही एक उपाश्रय में थे। राजा को इस तरह रुक-रुककर चलते देखकर उन्होंने प्रेरणा देते हुए कहा -

'हे राजन ! अपने कुंजर को आगे बढ़ाओ । तुम रुको मत। क्योंकि धरती का उद्धार तुमने ही किया है।'

आचार्य हेमचन्द्र की उस प्रेरक और यौक्तिक वाणी से सिद्धराज अत्यन्त आकृष्ट हुए। यह प्रसंग आगे जाकर एक-दूसरे के निकट आने में सहयोगी बना। साथ ही राजमाता मीलनदेवी जैन श्राविका थी। उसने भी सिद्धराज को आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा से अवगत कराया। आचार्य हेमचंद्र की प्रतिभा और गुजरात राजा सिद्धराज के योग से गुजरात की प्रजा में सात्विक संस्कारों की अभिवृद्धि हुई।

आचार्य हेमचन्द्र और कुमारपाल

राजा सिद्धराज के पश्चात् गुजरात राज्य की गद्दी पर श्री कुमारपाल आये। वे आचार्य हेमचन्द्र को अपना गुरु और उपकारक मानते थे। आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल को ७ वर्ष पहले बता दिया था- 'तुम एक प्रभावशाली राजा बनोगे।' एक बार उसके प्राणों की भी रक्षा की थी। तभी से वह उनको अपना परम उपकारी व श्रद्धेय मानने लगा था। राजा बनते ही उसने आचार्य हेमचन्द्र को बुलाया और उनका उचित सम्मान किया। समय-समय पर आचार्य से विचार विनिमय कर गुजरात के आध्यात्मिक विकास के संबंध में आज्ञा-निर्देश लेते रहे । स्वल्प समय में ही गुजरात अहिंसा, विद्या, कला और संस्कृति का केन्द्र बन गया। आचार्य हेमचंद्र ने अपने सम्प्रदाय के ही विकास के लिए कभी चिंतन नहीं किया। उनका उदार चिंतन सर्वहिताय और सर्वसुखाय रहता था, फिर भी कुछ विद्वेशी लोग उनमें संप्रदाय की बू देखते थे। एक दिन मौका पाकर चुगलखोरों ने कुमारपाल से कहा - 'महाराज ! आचार्य हेमचन्द्र अपने ही धर्म और तीर्थंकरों की स्तवना करते हैं। दूसरों की स्तवना से दूर रहते हैं, प्रत्युत निंदा करते हैं।'

राजा के मन में यह बात चुभ गयी। उन्होंने बात-बात में आचार्य हेमचंद्र से सोमनाथ की स्तवना का निवेदन किया। आचार्य हेमचंद्र ने स्वीकृति देते हुए कहा - ''मैं तैयार हूं।' सोमनाथ की (महादेव) स्तवना करते हुए उन्होंने कहा -

'महारागो महाद्वेषो, महामोहस्तथैव च ।
कषायश्च जितो येन महादेवः स उच्यते॥

'जिसने महाराग, महाद्वेष और महामोह को मिटा दिया है, वही महादेव है। उनको ही मेरा नमस्कार है।' राजा कुमारपाल पर आचार्य हेमचंद्र की समन्वयकारक नीति का सुन्दर असर पड़ा। उन्होंने जीव-वध, सप्तव्यसन वर्जन आदि का राजव्यापी प्रचार करवाया और स्वयं ने श्रावक धर्म को स्वीकार किया। आचार्य हेमचंद्र जहां राजाओं के माध्यम से जनता में सत्-संस्कारों की जागृति करवाते, वहां स्वयं श्रेष्ठ साहित्यसर्जन कर उनको स्थायित्व युक्त होने में योग भी देते। उन्होंने साहित्य के सभी विषयों पर श्रेष्ठतम साहित्य का निर्माण किया है। आपके शिष्यगण भी अच्छे साहित्यकार बने। किंवदन्ती है कि आचार्य हेमचन्द्र के सम्मुख एक साथ ८४ कलमें चलती थीं । उन्होंने करीब साढ़े तीन करोड़ पद्यों से भी अधिक साहित्य निर्माण कर जैन-शासन की अभूतपूर्व सेवा की । जनता ने आपको 'कलिकाल सर्वज्ञ' तथा 'गुजरात सर्वज्ञ' के रूप में सम्मानित किया। एक जगह श्री के. एम. मुंशी ने अत्यन्त श्रद्धा भरे शब्दों में उनके लिए लिखा है -

'यह था समस्त जगत् का प्रखर विद्वान्, कवि, इतिहासकार, वैयाकरण और कोशकार, गुजरात का कलिकाल सर्वज्ञ, मद्य-निषेधक, शासन का सर्वप्रथम प्रेरक, मध्यकाल में अहिंसा का राजनीति में लाने का प्रयत्न करने वालों में प्रथम, गुजरात की एकता और महत्ता को अपनी कल्पना से पूर्ण करने वाला विश्वकर्मा ।'

आचार्य हेमचन्द्र केवल कुशल साहित्यकार ही नहीं, परन्तु एक अध्यात्म योगी भी थे। 'योग-शास्त्र' आपका योग सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रंथ है। आप वि. सं. १२२१ में ८४ वर्ष की दीर्घ आयु को पूर्ण कर स्वर्गस्थ हो गए। गुजरात राज्य में आज भी जैन-संस्कार जन-जन के जीवन में मुखरित है। वहां की जनता आज भी करीब-करीब निरामिष

भोजी है। यद्यपि आज हम सबके बीच आचार्य हेमचन्द्र नहीं हैं, परन्तु उनके द्वारा दिये गए सत्-संस्कार और साहित्य हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं।

प्रश्न :

१. हेमचन्द्राचार्य का मूल नाम क्या था ?

२. उनको जब आचार्य पद दिया उस समय उनकी उम्र क्या थी ?

३. राजा कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र से क्यों प्रभावित हुए ?

४. आचार्य हेमचन्द्र के सामने कितनी कलमें चलती थी ?

४

आचार्य भिक्षु : एक क्रान्तद्रष्टा आचार्य

वि. सं. १७८३ में आचार्य भिक्षु का जन्म हुआ। वि. सं. १८०८ में वे मुनि बने, वि.सं. १८१७ में एक क्रांति के साथ उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया, वि. सं.१८३२ में उन्होंने अपने उत्तराधिकारी का निर्वाचन किया और वि. सं. १८६० में उनका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य भिक्षु बचपन में एक प्रतिभाशाली बालक थे। युवावस्था में ही वे अपनी पत्नी के साथ विरक्त हो गये। पच्चीस वर्ष की अवस्था में वे साधु बनना चाहते थे। अचानक उनकी पत्नी का देहावसान हो गया। पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकारी माना जाता है, पर आचार्य भिक्षु ने इसे अनधिकार चेष्टा बताया। अपने पूर्व निर्णय के अनुसार उन्होंने तत्कालीन जैनाचार्य श्री रुघनाथजी के पास दीक्षा लेने का निर्णय किया।

जैन दीक्षा-पद्धति के अनुसार दीक्षा से पहले माता-पिता की अनुमति लेना आवश्यक है। आचार्य भिक्षु के पिता तो संसार से चल बसे थे। उनकी माता ने अनुमति देने से इन्कार कर दिया। आचार्य भिक्षु ने प्रयास किया और अन्त में अपने गुरु से माता दीपां बाई का संपर्क करवा दिया।

आचार्य रुघनाथजी दीपां बाई से मिले। उन्होंने दीक्षा की अनुमति न देने का कारण पूछा। उनके प्रश्न के उत्तर में दीपां बाई बोली - 'जब यह गर्भ में आया, तब मैंने सिंह का स्वप्न देखा था। स्वप्न-पाठकों ने

बताया कि यह बालक बहुत बड़ा राजा बनेगा और सिंह की तरह गूंजेगा। अब आप ही बताएं, मैं इसे मुनि कैसे बना दूं ?

पूज्य रुघनाथजी ने तथ्य को तर्क से काटते हुए कहा - 'बहिन! राजा तो केवल अपने देश में ही पूजा जाता है, पर साधु देश और विदेशों में सबकी पूजा पाता है, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि यदि यह साधु बनेगा तो सारे संसार में पूजा जाएगा और सिंह की तरह गूंजेगा।' रुघनाथजी के इन दो आशीर्वादों ने दीपां बाई के मन को बदल दिया। उन्होंने दीक्षा की आज्ञा दे दी।

दीक्षा के बाद वे आचार्य रुघनाथजी के अत्यन्त प्रिय शिष्य हो गये। गुरु ने अपना सारा वात्सल्य उन पर ही ऊंडेल दिया। वे स्वयं घंटों तक बैठकर अपने प्रिय शिष्य को पढ़ाते और उसकी कुशाग्र मति को देखकर आत्मतोष पाते थे। पूज्य रुघनाथजी और आचार्य भिक्षु का तादात्म्यभाव यहां तक बढ़ा कि उन्हें उत्तराधिकारी बनाने की धारणा दृढ़ हो गई। आठ वर्ष तक आचार्य भिक्षु अपने गुरु के साथ रहे। इस लम्बे काल के बाद एक परिवर्तन आया और स्वामीजी ने इसी समय धर्म-क्रांति करके नया आलोक पाया।

घटना राजनगर की है, वहां के श्रावक साधुओं के आचार-विचार के बारे में संदिग्ध हो गए। सैद्धांतिक परंपरा के अनुसार उन्होंने साधुओं को गुरुबुद्धि से वन्दना-नमस्कार करना छोड़ दिया। इस बात से आचार्य रुघनाथजी को बहुत चिन्ता हुई। उन्होंने अपने प्रिय और विश्वासपात्र मुनि भीखणजी को श्रावकों को समझाने के लिए भेजा। उनके साथ चार मुनि और थे - मुनि भारमलजी, हरनाथजी, टोकरजी और वीरभाणजी।

मुनि भीखणजी अपने सहयोगी साधुओं के साथ राजनगर पहुंचे। श्रावकों से बातचीत की। श्रावकों ने कहा - 'हम आपके आचार में, दिन-प्रतिदिन शैथिल्य देख रहे हैं, तब भला आपको साधु कैसे मानें ?'

भिक्षु स्वामी ने अनुभव किया कि श्रावकों की बातें सत्य हैं। फिर भी आचार्य और संघ की बात रखने के लिए उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा के द्वारा उनको समझा दिया। संयोगवश उसी रात्रि में भीषण ज्वर ने उन पर हमला कर दिया। स्वामीजी बेचैन हो गये। वे सोचने लगे - मैंने श्रावकों की सही बातों को झुठलाया है । यदि इस समय मेरा अवसान हो जाए या आयुष्य का बन्ध हो जाए तो क्या गति होगी। इस चिंतन से वे कम्पित हो गए, उन्होंने मन में संकल्प किया कि ज्वर-पीड़ा से मुक्त हो गया, तो प्रत्येक पहलू पर पुनः चिंतन कर सही तथ्यों को प्रकाश में लाऊंगा। इस चिन्तन के साथ ही ज्वर हल्का होता गया।

प्रातःकाल जब श्रावक वन्दना करने के लिए आए तो उन्होंने कहा -'कल मैंने तुम लोगों को जो निर्णय दिया था, उसे अन्तिम निर्णय मत मानना। मैं फिर से शास्त्रों का अध्ययन करके सही तथ्य बताऊंगा।' जैसी आशा थी, वैसा आश्वासन पाकर श्रावक सन्तुष्ट हो गए।

शास्त्रों का मंथन करने के बाद स्वामीजी के चिंतन में उथल-पुथल मच गई। उनको विश्वास हो गया कि श्रावक सच कहते हैं। हम अपने आचार से पीछे खिसकते जा रहे हैं। इसी चिन्तन को लेकर वे आचार्य रुघनाथजी के पास पहुंचे, सैद्धांतिक चर्चा की और आचार का सम्यक् पालन करने का अपना निश्चय व्यक्त किया।

गुरु-शिष्य के सम्बन्धों में यहीं से अन्तर आने लगा। गुरु ने कहा -'तुम श्रावकों को समझाने के लिए गए थे, और खुद समझकर आ गए। अब अपनी बात पर अड़े रहोगे तो जीना मुश्किल हो जाएगा।'

गुरु-शिष्य के विचारों में समझौते की संभावना नहीं थी। अतः शिष्य ने गुरु से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। वह समय धर्म-गुरुओं के जबरदस्त प्रभाव का समय था। स्वामीजी अपने तेरह सहयोगियों के साथ बगड़ी में ज्योंही अलग हुए, विरोध का तूफान खड़ा हो गया। सारे शहर में घोषणा करवा दी गई कि कोई भीखणजी

को स्थान न दे। ऐसी स्थिति में भी भीखण अपने निश्चय पर अडिग रहे। वहां स्थान नहीं मिला तो विहार कर आगे चलने लगे, किन्तु भयंकर आंधी ने बीच में ही उनका मार्ग रोक लिया। अब उन्होंने अपना पहला निवास-स्थान श्मशान की छतरियों को बनाया।

आचार्य रुघनाथजी भी वहां पहुंचे। उन्होंने कहा -'तुम जहां कहीं जाओगे, आगे तुम तो पीछे हम, मैं तुम्हारे पीछे लोग लगा दूंगा ।' उन्होंने कहा -'आप मेरे पीछे-पीछे रहेंगे तो फिर मुझे भय ही किस बात का है ? आप मेरे विचारों के पीछे लोगों को लगा देंगे तो मुझे चाहिए ही क्या ?

स्वामीजी जब अलग हुए थे, तब उनकी इच्छा किसी नए संघ को चलाने की नहीं थी, किन्तु जोधपुर के एक कवि ने तेरह श्रावक और तेरह साधुओं की संख्या को ध्यान में रखकर संख्यापरक नाम 'तेरापंथ' कर दिया। आचार्य भिक्षु ने जब यह बात सुनी तो आपने 'हे प्रभो! यह तेरा (तुम्हारा) पंथ' ऐसा व्यापक अर्थ कर उस शब्द को स्वीकार कर लिया।

स्वामीजी ने अपना प्रथम चातुर्मास केलवा की उस अन्धेरी ओरी में बिताया, जो स्थान भयंकर उपद्रव-ग्रस्त घोषित हो चुका था। इसके बाद अनेक वर्षों तक विरोध का वातावरण रहा। स्थान, आहार और वस्त्रों की समस्या रही। क्योंकि आपने कहा -'साधुओं के लिए स्थान न बनाया जाए, आहार न बनाया जाए और दूसरी आवश्यक चीजों का निर्माण भी न किया जाए।'

जिस समय अधिकांश साधु इन मर्यादाओं के प्रति उदासीन हो जाए, दो चार की बात कौन माने ? कहीं उनको निर्दोष स्थान, आहार उपलब्ध भी हो जाते तो लोग उन्हें भी छुड़वा देते। पाली में उनको स्थान खाली करना पड़ा और नाथद्वारा में चतुर्मास के बीच में ही गांव छोड़ना पड़ा। एक और घटना नाथद्वारा की है, जहां साध्वी अजबूजी

कहीं से थोड़ा-सा घी लेकर दूसरे घर में गई। वहां एक बाई ने घाट पात्री में बहराई। लेकिन ज्योंही उसे पता चला कि यह तेरांपथी साध्वी है, उसने पात्री छीनकर घी सहित घाट वापस ले ली।

साध्वीश्री ने इस घटना की चर्चा भिक्षु स्वामी के पास की। उन्होंने बहिन का नाम, पता पूछा। अपनी प्रत्युत्पन्न मति से तत्काल एक दोहा बनाकर बोले -

बादरशा री दीकरी कीकी थांरो नांम।
घाट सहित घी ले लियो, ठाली कर दियो ठांम॥

प्रारम्भ की नाजुक स्थिति का चित्र खींचते हुए आचार्य भिक्षु ने अपने अन्तिम समय में कहा -

'हम जब उनको छोड़कर अलग हुए थे, तब पांच वर्ष तक तो पूरा आहार भी नहीं मिला। गौचरी करके जंगल जाते, नदी की रेत में आतापना लेते और वृक्ष की छाया में बैठकर आहार करते । शाम को वापस गांव में जाते। इस प्रकार कष्ट सहन करते थे। हमें क्या पता था कि लोग हमारे विचारों को सुनेंगे, उनको महत्त्व देंगे और हमारे संघ में दीक्षाएं होगी। हमने तो सोचा था—तपस्या करके आत्म-कल्याण करेंगे ।

इसी भावना को पद्यबन्द करते हुए जयाचार्य ने भिक्षु जशरसायण में लिखा है -

पांच वर्ष पहिछाण, अन पिण पूरो नां मिल्यो।
बहुलपणै बच जाण, घी चौपड़ तो ज्यांही रह्यो॥

नवीन संघ का समुचित संरक्षण करने के लिए आचार्य भिक्षु ने तीन काम विशेष रूप से किए -

१. मूल्यों की स्थापना

दान, दया और सेवा के बारे में उन्होंने नई स्थापना की। आम जनता की यह धारणा थी कि जैसे तैसे दान देना धर्म है, स्वर्ग और

मोक्ष का मार्ग है। उचित या अनुचित हर प्रकार से किसी को बचाना दया है, धर्म है और मोक्ष का मार्ग है। स्वामीजी ने इन बातों में संशोधन करके कहा -'दान, दया और सेवा सामाजिक अपेक्षाएं हैं, परस्परता के लिए आवश्यक है। लेकिन इनको आत्मधर्म मान लेना भयंकर भूल है। चींटियों के बिल पर आटा डालकर उनका पोषण करना दया नहीं है। आटे के प्रलोभन से बाहर निकली हुई हजारों चींटियां किसी पशु के पैर या गाड़ी के नीचे आकर जब मर जाती हैं, तब पाप किसे लगता है ?

'बूचड़खाने में रुपये देकर हिंसा बंद करवाना, हिंसा को प्रोत्साहन देना है। क्योंकि कोई भी कसाई अपनी आजीविका के उद्देश्य बिना हिंसा नहीं करता। रुपये देने से उनकी समस्या का हल होता है, तो वह अधिक तीव्र गति से हिंसा करने के लिए कटिबद्ध होगा। रुपये देना हिंसा छुड़वाने का सही तरीका नहीं है। किसी भी हिंसक को हिंसा का दुष्परिणाम बताकर अहिंसक बनाना ही वास्तविक दया है।

'दान की बात आज के युग में बिल्कुल फिट नहीं बैठती, आज कोई भी व्यक्ति दान नहीं, अपना अधिकार चाहता है। श्रमिक अपने श्रम का प्रतिदान चाहता है। तथाकथित दान से आज प्रबुद्ध लोग घृणा कर रहे हैं।

२. संघ-संगठन

संगठन की दिशा में स्वामीजी ने जो काम किया, वह इतिहास की बेजोड़ घटना है। उन्होंने समूचे संघ को एक सूत्र में बांध दिया। उस समय संघ का विस्तार इतना नहीं था, इसलिए इस कार्य का भी इतना महत्व नहीं रहा हो। लेकिन आज एकता के इस सूत्र ने ही संघ को सुव्यवस्थित बनाए रखा है। संघ की विश्रृंखलता का एक कारण होता है शिष्यलोलुपता।

आचार्य भिक्षु ने इस पर सीधा प्रहार किया। शिष्य-परम्परा का

लोप कर दिया और सब शिष्य एक आचार्य के आदेश-निर्देश में रहें, ऐसा विधान बना दिया।

३. साहित्य-सृजन

अपने जीवन-काल में अड़तीस हजार पद्य-प्रमाण रचना करके उन्होंने राजस्थानी साहित्य को समृद्ध बना दिया। जैन सिद्धान्त के रहस्यों को अनावृत करने के लिए उनका साहित्य पूर्ण रूप से सक्षम है। अनेक विरोधों और संघर्षों के बावजूद भी उनकी लेखनी अविरल चलती रही ।

तीन काम पूरे करने के बाद आचार्य भिक्षु ने अपना अन्तिम चातुर्मास सिरियारी (मारवाड़) में किया । सतहत्तर वर्ष की अवस्था तक वे सारा काम अपने हाथों से करते, गोचरी स्वयं करते और प्रतिक्रमण खड़े-खड़े करते थे। उनका प्रायः समूचा जीवन स्वस्थ रहा। अन्तिम समय में स्वास्थ्य थोड़ा गिरने लगा और आपने अनशन करने का निश्चय कर लिया।

संवत्सरी के उपवास के पारणे के बाद आपने संतों के सामने अनशन की बात चलाई, वे उसी समय अपने चिंतन को क्रियान्वित करना चाहते थे, किन्तु मुनि खेतसीजी, भारमलजी आदि संतों के आग्रह से थोड़ा-सा आहार करने के लिए राजी हो गए। भाद्रपद शुक्ला द्वादशी के दिन भारमलजी आदि सन्तों को अपने पास बिठाकर आमरण अनशन कर लिया।

अपनी अन्तिम शिक्षा फरमाते हुए उन्होंने कहा - ''मैं अब तुम लोगों के बीच ज्यादा नहीं रहूंगा । तुम सब मुझे जैसा समझते हो, वैसा ही भारमल को समझना। प्रत्येक कार्य इसकी आज्ञा से करना। सिद्धांतों पर दृढ़ रहना और आचार-विचार पक्ष को मजबूत रखना। सब साधु-साध्वी परस्पर विशेष सौहार्द से रहना। दीक्षा देते समय सजग रहना, दीक्षार्थी की पूरी जांच कर उसे योग्य समझकर दीक्षा देना। जो आ गया,

उसी को मूंड लेने का प्रयास मत करना। साधना की कसौटी पर जो खरा उतरे, उसी को दीक्षा देना ।'

स्वामीजी के अनशन की खबर हवा की तरह सब जगह फैल गई। हजारों दर्शनार्थी भाई-बहिनों का तांता-सा लग गया। त्रयोदशी के दिन स्वामीजी ने साधुओं से कहा - 'सन्त आ रहे है । तुम लोग उनके सामने जाओ।' थोड़ी देर बाद कहा -'साध्वियां आ रही हैं।' समीपस्थ मुनियों ने सोचा - स्वामीजी का मन साधु-साध्वियों में रह गया है, इसलिए ऐसा कह रहे हैं, किंतु दोपहर तक जब साधु और साध्वियों को वहां पहुंचा देखा तो साधुओं के आश्चर्य की सीमा नहीं रही।

इस घटनाओं से ऐसा अनुभव होता है कि विशिष्ट आत्माओं को अन्तिम समय में अतीन्द्रिय ज्ञान पैदा हो जाता है। तत्कालीन साधु उस ज्ञान के द्वारा आगत और अनागत की बहुत बातें जानना चाहते थे, किन्तु वह समय निकल गया। स्वामीजी बोलने में असमर्थ हो गए थे।

अंतिम समय में सब लोगों से क्षमा-याचना कर त्रयोदशी के दिन वे इस पार्थिव शरीर को छोड़कर स्वर्गस्थ हो गए। हजारों लोग उनकी शव-यात्रा में सम्मिलित हुए। स्वामीजी संसार से चले गए, पर उन्होंने जो देन दी, वह आज भी हमारे लिए, गौरव की बात है। उनका समूचा जीवन सक्रिय और पुरुषार्थी रहा। उनके आदर्शों पर चलकर हम भी सत्य धर्म का प्रसार करें, यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

प्रश्न :

१. नवीन संघ के समुचित संरक्षण के लिए आचार्य भिक्षु ने कौन-कौन से काम विशेष रूप से किये ?

२. आचार्य भिक्षु ने साधु-साध्वियों को क्या शिक्षा दी थी ?

३. आचार्य भिक्षु के जीवन पर प्रकाश डालो ।

४. राजनगर की घटना का संक्षेप में उल्लेख करो।

५
आचार्य कालूगणी : पुण्यवान् आचार्य

श्री कालूगणी तेरापंथ के अष्टम आचार्य थे। वे बड़े प्रभावशाली और पुण्यवान आचार्य थे। उनका प्रभाव इतना तीव्र था कि विरोधी जन भी उनसे अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकते थे। उनकी पुण्यवत्ता भी अद्वितीय थी। जो कार्य सैकड़ों व्यक्तियों के परिश्रम और धन से भी सम्भव नहीं होता, वह उनकी पुण्यवत्ता से स्वयं ही हो जाया करता था। उनके शासनकाल में अनेक कार्य इस प्रकार से सम्पन्न हुए थे कि मानो उनके पीछे किसी अदृश्य शक्ति का सहयोग रहा हो। उनके युग में यद्यपि अनेक विरोध और बवंडर उठे थे, परन्तु वे सब इस प्रकार से शांत हुए, मानो वे उन्हें और चमकाने के लिए आये थे। उनके युग में समाज की भौतिक और आध्यात्मिक - दोनों ही प्रकार की उन्नति हुई ।

जन्म एवं दीक्षा

आचार्यश्री कालूगणी का जन्म राजस्थान के अन्तर्गत बीकानेर डिवीजन के छापर नामक कस्बे में वि. सं. १९३३, फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को हुआ था। उनके पिता का नाम मूलचन्दजी कोठारी व माता का नाम छोगांजी था। उनकी दीक्षा बीदासर चातुर्मास में वि. सं. १९४४, आश्विन शुक्ला तृतीया को मघवागणी के वरदहस्त से उनकी माता व बहिन कानकंवरजी के साथ हुई थी।

मुनि जीवन

दीक्षा लेने के बाद मुनि कालू ने मघवागणी की सेवा में रहते हुए

अपनी साधना प्रारम्भ की। बालक होते हुए भी वे बड़े स्थिर योगी थे। वे अपना हर कार्य बड़ी सावधानी तथा उपयोगिता से किया करते थे।। उनकी बुद्धि बड़ी तेज थी। वे अपना अधिकांश समय अध्ययन में लगाया करते थे। आचार्यश्री की दृष्टि के अनुरूप कार्य करना उनका विशेष गुण था। मघवागणी की सेवा का उन्हें लगभग पांच वर्ष का अवसर प्राप्त हुआ था।

उन्होंने अपने दीक्षा-काल के थोड़े से वर्षों में ही काफी प्रभाव स्थापित कर लिया था, अतः माणकगणी का स्वर्गवास होने के पश्चात् उन्हें आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित करने की बातें भी अन्तरंग रूप से की जाने लगी थी। यदि उस समय उनकी अवस्था थोड़ी और बड़ी होतीं तो संभव है कि उन्हें आचार्य-पद पर बिठा दिया जाता। आचार्य-पद के लिए उस समय संघ ने डालगणी को चुना। डालगणी ने जब से आचार्य-पद को संभाला तभी से कालूगणी की विशेषताओं से परिचित हो गये, अतः अपने अन्तिम समय में उन्होंने अपना उत्तराधिकार उन्हीं को समर्पित किया।

आचार्य-काल

वि. सं. १९६६, भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा के दिन उनके पट्टारोहण का प्रथम उत्सव मनाया। उस दिन वे विधिपूर्वक आचार्य-पद पर आसीन हुए। आचार्य बनने के पूर्व वे काफी कृशकाय तथा कृष्णवर्ण थे, किन्तु आचार्य बनने के पश्चात् शीघ्र ही उनके शारीरिक व्यक्तित्व में इतना बड़ा परिवर्तन आया कि मानो वे एकदम से ही परिवर्तित हो गये। गेहुंआ वर्ण, लम्बा कद, प्रशस्त ललाट और सैकड़ों व्यक्तियों में स्वयं ही पृथक् दिखाई देने वाला उनका व्यक्तित्व द्रष्टाओं को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया करता था।

अभूतपूर्व प्रगति

कालूगणी के युग में श्रमण-वर्ग, क्षेत्र, पुस्तकें तथा कला आदि

में अभूतपूर्व प्रगति हुई। पहले किसी भी आचार्य के समय में साधुओं की संख्या अस्सी से ऊपर नहीं गयी थी, परन्तु उनके युग में वह संख्या बहुत आगे बढ़कर एक सौ उनतालीस तक हो गयी थी। श्रावक-वर्ग में भी उनके समय में अपेक्षाकृत अधिक जागृति हुई। उनकी आन्तरिक प्रेरणा से ही उनमें धर्म के प्रति श्रद्धा और अधिकाधिक दृढ़ता का भाव उत्पन्न हुआ, वस्तुतः यह उन जैसे आचार्यों का अतिशय ही कहा जा सकता है।

पुस्तक भण्डार

कालूगणी को पुस्तकों की अभिरुचि बहुत रहा करती थी। जहां कहीं भी पुस्तक-भण्डार का पता लगता, वे प्रायः मुनि मगनलालजी को वहां भेजते। उसका निरीक्षण करवाते । किस भण्डार में कौन-सी विशिष्ट प्रति है, यह मुनि मगनलालजी को विशेष रूप से ध्यान में रहता। भंडार के स्वामी की भावना होती तो आवश्यक प्रतियां जांच ली जातीं। यही कारण था कि उनके समय में संघ का पुस्तक-भंडार बहुत समृद्ध हुआ।

स्वामी भीखणजी को जहां आगम पुस्तकों के लिए बड़ा प्रयास करना पड़ता था, वहां कालूगणी के समय में वे सहजता से प्राप्त की जा सकती थी। कहा जाता है कि स्वामीजी को भगवती-सूत्र की प्रति बहुत लम्बे समय की प्रतीक्षा और प्रयास के पश्चात् प्राप्त हुई थी और वह भी केवल एक ही, परन्तु कालूगणी के समय संघ में भगवती की छत्तीस प्रतियां प्राप्त थीं।

कला-विकास

कला के प्रति भी उनका बड़ा आकर्षण था। वे साधुजनोचित उपकरणों में इसका विकास देखने को बड़े उत्सुक रहा करते थे। यही कारण था कि उनके समय में साधुओं के वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि उपकरणों में एक ऐसी सुरुचिपूर्णता का उद्भव हुआ जो कि दर्शकों के

लिए पात्र, नरेटी को घिसकर बनायी हुई टोपसी, सूत को गूंथकर बनायी गयी माला तथा कांटा निकालने के लिए निर्मित काठ की चीमटी तक में कला निखर उठी।

लिपि-सौक्ष्म्य

लिपि-क्रिया में उस कला ने अधिक चमत्कार पैदा कर दिया। अनेक संतों के सुन्दर अक्षर मोती का-सा सौन्दर्य लिए पत्रों पर उतरने लगे, फलस्वरूप अनेक प्रतियों का जीर्णोद्धार हुआ और लिपिकला के कक्ष में अनेक ग्रंथ-रत्नों की वृद्धि हुई। मुनि कुन्दनमलजी (जावद-निवासी) ने अन्य लिपिकर्ताओं से आगे बढ़कर सुन्दरता के साथ सूक्ष्मता का भी योग कर दिया। उन्होंने एक पत्र में लगभग ढाई हजार श्लोक (अस्सी हजार अक्षर) लिखकर सबको चकित कर दिया। समग्र उत्तराध्ययन सूत्र और समग्र व्यवहार चूलिका उस एक लघुकाय पत्र के गर्भ में ही समा गई ।

क्षेत्र-विस्तार

इसी प्रकार तेरापंथ का क्षेत्र-विस्तार भी आपके समय में बहुत हुआ। मध्य भारत, गुजरात, महाराष्ट्र आदि सुदूर प्रांतों में सर्वप्रथम आपने ही साधुओं को भेजा था।

संस्कृत का विकास

जयाचार्य ने संस्कृत-पठन की जो प्रवृत्ति चालू की थी, मघवागणी उसे आगे बढ़ाना चाहते थे। उन्होंने उस कार्य के लिए कालूगणी को चुना। वे अपने दृढ़ संकल्प-शक्ति और तीव्र बुद्धि के कारण सर्वथा उपयुक्त पात्र थे। उस समय की परिस्थितियों के अनुसार संस्कृत-पठन आज की तरह सहज साध्य कार्य नहीं था। सर्वप्रथम बाधा तो यह थी कि उसे पढ़ाने वाला दुष्प्राप्य था। संघ में सांगोपांग संस्कृत व्याकरण का पाठ कराने वाला कोई नहीं था, अतः उस कमी को पूरा करने के लिए किसी पण्डित का सहयोग प्राप्त करना अत्यन्त

आवश्यक था, किन्तु उस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि निस्पृह-भाव से विद्या का दान देने वाले पंडितों का अभाव-सा ही था। अर्थदान के विनिमय में विद्यादान ग्रहण करने की पद्धति जैन श्रमण होने के नाते स्वीकार्य नहीं थी ।

ऐसी परिस्थिति में पल्लवग्राही ज्ञान भी दुःसाध्य था, तो उस विषय के परिपूर्ण ज्ञान की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती थी ? इसलिए अधिकांश साधु संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ ही नहीं करते थे। कोई-कोई प्रारम्भ कर देते तो निरन्तर पाठ नहीं चल सकने के कारण ऊब जाते थे और आगे के लिए उस क्रम को बंद कर दिया करते थे। उस समय कालूगणी जैसे स्थिर योगी और दृढ़-संकल्पी व्यक्ति ही उस असहज कार्य को सहज बनाने में सफल हो सकते थे।

तेरापंथ में पहले-पहल जयाचार्य ने संस्कृत का अध्ययन किया था, किन्तु वह बीज-वपन के समान ही कहा जा सकता है। मघवागणी को उसे अंकुरित करने का श्रेय प्राप्त है। उसे बढ़ाने और दिशाओं में फैलाकर शत-साखी बनाने का समस्त श्रेय एकमात्र कालूगणी को ही दिया जा सकता है। पण्डित घनश्यामदासजी व पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा का योग, कालूगणी की परिश्रमशीलता और प्रेरणा तथा युवक साधुओं की अध्ययनशीलता इन सबके समन्वित रूप ने ही तेरापंथ को विद्या के क्षेत्र में आगे ला दिया।

डा. हर्मन् जेकोबी का आगमन

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. हर्मन् जेकोबी विभिन्न अट्ठारह भाषाओं के विद्वान् थे। जैनागम तथा जैन दर्शन के भी वे विशेषज्ञ थे। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग आदि आगमों का उन्होंने अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया था। एक बार पहले भी वे भारत में आए थे। दूसरी बार की भारत यात्रा में उन्होंने कालूगणी और उनके व्यक्तित्व के विषय में कुछ बातें सुनी, तो दर्शन करने का निश्चय किया।

उन्होंने वि. सं. १९७० में लाडनूं आकर कालूगणी के दर्शन किये। वहां तीन दिन ठहरे। साधुओं की दिनचर्या देखी। अनेक विषयों पर बातचीत की। उन्होंने अपनी आशंका को सामने रखते हुए कहा - ''अहिंसाधर्मी जैन तीर्थंकर मांस खाते थे, यह बात मेरे मन में सदैव कचोटती रही है, पर आचारांग का अनुवाद करते समय 'मंसं वा मच्छं वा' से मैंने यही पाया कि ऐसा होता था।''

कालूगणी ने दशवैकालिक तथा भगवती आदि में आए हुए पाठ तथा उससे संबंधित टीकाकारों द्वारा किये गये अर्थों से उन शब्दों से उत्पन्न होने वाली भ्रांति का निराकरण किया। 'पन्नवणा' में आए हुए वनस्पति के नाम भी दिखाये। उनके अतिरिक्त 'चेइय' शब्द पर भी काफी लम्बी चर्चा चली। उस समय एक सम्पन्न दम्पत्ति की दीक्षा देखने का भी उन्हें अवसर मिला। जब वे गए तो बड़े प्रभावित होकर गए। अपनी तत्त्व-चर्चा का उन्होंने भारत से विदा होने के पूर्व जूनागढ़ में हुई एक सभा में उल्लेख करते हुए कहा - 'इस यात्रा में मैंने तीन नये तथ्य देखे हैं जिन्हें मैं भूल नहीं सकता -

(१) भगवान महावीर की शुद्ध श्रमण-परम्परा ।

(२) 'मंसं वा मच्छं वा' का यथार्थ अर्थ ।

(३) 'सपत्नीक भागवती दीक्षा ।'

एक चमत्कार

कालूगणी ने वि. सं. १९७७ में अपना चातुर्मास भिवानी में किया। कार्तिक मास में चार दीक्षाएं संपन्न होने वाली थी । कुछ सांप्रदायिक तत्त्वों ने उसी को माध्यम बनाकर विरोध भड़काने का प्रयास किया। गली-गली और घर-घर में जाकर दीक्षा के विरुद्ध जनता की भावना को उभारा गया । यहां तक कहा जाने लगा कि ३६ हजार जनसंख्या वाले इस नगर में जब तक एक भी व्यक्ति जीवित रहेगा तब तक दीक्षा नहीं होने दी जायेगी। दीक्षा से पूर्व दिन की रात्रि

को उन लोगों ने सार्वजनिक सभा बुलायी । उसमें जोशीले भाषणों द्वारा दीक्षा के विरुद्ध जनता को उभारा जाने लगा। जिस समय भाषण पूरे जोश से चल रहे थे उसी समय अचानक सभा में भगदड़ मच गयी। भयभीत होकर लोग एक-दूसरे को रौंदते हुए इस तरह दौड़े कि उस अप्रत्याशित भगदड़ में अनेक व्यक्ति कुचले गये और घायल हो गये। कुछ मिनटों में ही सारा सभा स्थल इस प्रकार खाली हो गया मानो वहां पर कोई गोली चली हो। जो जैसे बैठा था, वह वैसे ही भाग खड़ा हुआ। अपनी पगड़ी , जूते और छाते संभालने तक का लोगों को अवसर नहीं मिला । सभा-स्थल में चारों ओर वह सामान बिखरा हुआ रह गया।

बाद में जब भगदड़ के कारणों की खोज की गयी, तो पता चला कि वहां आकाश से बहुत बड़ा सफेद गोला आता दिखाई दिया था, तो किसी को सफेद बछड़ा, किसी को दैत्य और किसी को कुछ ।

दूसरे दिन प्रातः शांत वातावरण में दीक्षा सम्पन्न हुई। कालूगणी के किसी अदृश्य प्रभाव से विरोधियों की वह सारी योजना उस रात्रिकालीन सभा में ही अपने आप समाप्त हो गयी। किसी विरोधी को साहस ही नहीं हुआ कि वह कुछ करे। उन सबको रात के उस मामले में स्वयं कालूगणी द्वारा किए गए किसी चमत्कार के ही दर्शन हुए। सुनने वालों ने उस घटना को दैवी चमत्कार ही माना। सच बात तो यह है कि उनकी पुण्य पवित्रता ही स्वयं अपने-आप में एक चमत्कार थी। उसी से उनके समस्त कार्य सरल और सहज हो जाते थे।

पिस्तौल गिर पड़ी

कालूगणी का वि. सं. १९७९ का चातुर्मास बीकानेर में था। तेरापंथ के आचार्यों का वहां वह प्रथम चातुर्मास ही था। विरोधी लोगों को वह बहुत अखरा। उन्होंने सोचा - यदि इस बार इनके पैर यहां से उखाड़ दिए तो सदा के लिए झगड़ा समाप्त हो जाएगा। उन लोगों ने

प्रबल विरोध प्रारंभ कर दिया। जब केवल बाह्य विरोध से वे आचार्यश्री को विक्षुब्ध नहीं कर पाये तब उनकी हत्या कर देने तक का उन लोगों ने षड्यंत्र रच डाला।

बीकानेर से बाहर काफी दूरी में मिट्टी के बड़े-बड़े ढुह फैले हुए हैं। साधुजन शौचादिक के लिए उधर ही जाया करते थे। षड्यंत्रकारियों ने कालूगणी को वहां अपने शस्त्र का लक्ष्य बनाने का निश्चय किया। उन लोगों ने एक व्यक्ति को प्रलोभन देकर उस कार्य के लिए नियुक्त किया। अपनी योजनानुसार वह उस स्थान में पहुंच गया। कालूगणी प्रतिदिन के समान ही स्थंडिल भूमि की ओर पधारे । जब वे अकेले रह गये, तब वह व्यक्ति उनकी ओर बढ़ा । उसके हाथ में भरी हुई पिस्तौल थी।

वह पिस्तौल का घोड़ा दबाने ही वाला था कि न जाने कालूगणी की सहज-स्नेहार्द दृष्टि का उस पर क्या प्रभाव पड़ा कि उसके तन और मन दोनों ही धूज उठे और उसके हाथ से पिस्तौल नीचे गिर पड़ी ।

एक अज्ञात व्यक्ति को अपनी ओर इस प्रकार देखते हुए देखा तो कालूगणी ने पूछ लिया - 'क्यों भाई ! क्या बात है ?

वह व्यक्ति आगे बढ़ा और चरण-स्पर्श करते हुए बोला - 'बात तो बहुत थी, परन्तु मैं इतना कमीना नहीं हूं कि चन्द चांदी के टुकड़ों के लिए आप जैसे देव-पुरुष की हत्या कर डालूं।'

उस व्यक्ति ने भाव-विह्वल भाषा में सारी स्थिति की जानकारी दी, बारम्बार अपने कृत्य पर पश्चात्ताप किया तथा क्षमायाचना कर अपने घर चला गया।

कालूगणी ऐसे गंभीर पुरुष थे कि उन्होंने उस घटना का श्रावकों के सामने तो क्या बहुत दिनों तक साधुओं के सामने भी उल्लेख नहीं किया।

वि. सं. १९९३, भाद्र शुक्ला ६ को गंगापुर (राजस्थान),

रंगलालजी हिरण की हवेली में आपका स्वर्गवास हुआ।

कालूगणी के शासन-काल में चार सौ दस दीक्षाएं हुयीं। उनमें एक सौ पचपन साधु और दो सौ पपचपन साध्वियां थीं। वे दिवंगत हुए उस समय एक सौ उनचालीस साधु और तीन सौ तैंतीस साध्वियां संघ में विद्यमान थीं।

प्रश्न :

१. कालूगणी की दीक्षा कहां और किनके हाथों हुई थी ?

२. कालूगणी ने अपने संघ में किन-किन बातों का विकास किया था ? अपने शब्दों में व्यक्त करो।

३. 'पिस्तौल गिर पड़ी' - इस घटना को अपनी भाषा में बताओ।

४. कालूगणी के शासनकाल में साधुओं की संख्या कितनी थी?

६

तेरापंथ को आचार्य तुलसी की देन

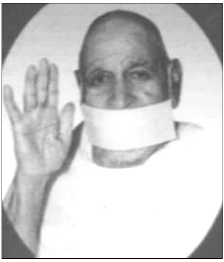

तेरापंथ के नवम् अधिशास्ता युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ने अपने पूर्ववर्ती आठ आचार्यों द्वारा अर्जित सम्पदा को सुरक्षित ही नहीं रखा अपितु उसे वृद्धिंगत किया है। आपका शासनकाल अपने आप में अपूर्व और विलक्षण रहा है। इस अपूर्वता का आभास उन सब लोगों को है जो आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व से थोड़े भी परिचित हैं। परिचय के बिन्दु भी इतने सूक्ष्म हैं कि उनके माध्यम से आपके समग्र व्यक्तित्व का दिग्दर्शन नहीं हो सकता। फिर भी कुछेक बिन्दु यहां प्रस्तुत हैं।

वि. सं. १९९३, (ई. सन् १९३६) भाद्र शुक्ला तृतीया को तेरापंथ के अष्टम आचार्य श्री कालूगणी ने मुनि तुलसी के तरुण कंधों पर धर्म-संघ की धुरी रख दी । यह दिन आचार्यश्री तुलसी के प्रत्यक्ष रूप में संघीय दायित्व को स्वीकार करने का दिन था। अपना दायित्व अपने शिष्य को सौंप तीन दिन बाद ही कालूगणी दिवंगत हो गए। तेरापंथ का शासनसूत्र अब संपूर्ण रूप से आचार्यश्री तुलसी को संभालना था। इसके लिए विधिवत् कार्यवाही हुई भाद्र शुक्ला नवमी को । तेरापंथ के इतिहास की यह चौंका देने वाली घटना थी, जब एक बाईस-वर्षीय युवक ने धर्म-संघ की समग्र जिम्मेदारी संभालकर उसका कुशलतापूर्वक संचालन करना शुरू कर दिया। सैकड़ों साधु-साध्वियों के अन्तरंग और बहिरंग विकास की योजनाओं के साथ उनकी समुचित क्रियान्विति, हजारों-हजारों अनुयायियों का नेतृत्व और संपर्क में आने वाले लाखों लोगों का पथ-दर्शन। साधारण व्यक्ति के लिए यह सब

बड़ा जटिल हो जाता है, किन्तु आचार्यप्रवर ने इस दक्षता और दीर्घदर्शिता से काम किया कि एक उदीयमान धर्म-संघ अपनी तेजस्विता एवं लोक-चेतना को अभ्युदय देने वाली प्रवृत्तियों से जन-जन के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया।

विद्याप्राप्ति की अभीप्सा

उस समय तेरापंथ धर्म-संघ में शिक्षा का यथेष्ट विकास नहीं था। तत्कालीन सामाजिक वातावरण में भी शिक्षा सम्बन्धी आयामों का उद्घाटन भी समुचित नहीं हुआ था। विचार-अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र राजस्थानी भाषा थी। कालूगणी के युग में संस्कृत भाषा में बोलने और लिखने का क्रम शुरू हो गया था। 'भिक्षुशब्दानुशासनम्' और 'कालु-कौमुदी' - ये संस्कृत व्याकरण कालूगणी के सान्निध्य में ही निर्मित हुए और उनके पठन-पाठन का क्रम प्रारम्भ हो गया। कालूगणी के अथक परिश्रम व प्रेरणा से अनेक साधु संस्कृत के विद्वान बन गये थे, फिर भी सर्वांगीण अध्ययन की दिशाएं नहीं खुली थी। युग-चेतना ने करवट ली और शिक्षा का सामाजिक मूल्य प्रतिष्ठित हो गया। आचार्यश्री तुलसी ने अनुभव किया - यदि हमारे साधु-साध्वियां प्रबुद्ध नहीं होंगे तो समाज को क्या दे सकेंगे ? इस बढ़ती हुई बौद्धिकता में धार्मिक संस्कारों का पल्लवन भी अनुरूप साधन सामग्री के द्वारा ही हो सकता है। आचार्यश्री जो भी बात सोचते हैं, जो भी स्वप्न देखते हैं, वह निश्चित रूप से साकार हो जाता है। तेरापंथ संघ में शिक्षा का अभ्युदय हुआ। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी आदि विशिष्ट भाषाओं के साथ प्रान्तीय भाषाओं के लिखने, बोलने का अभ्यास हो चला। इतिहास, दर्शन, व्याकरण, आगम, गणित आदि शैक्षणिक विधाओं में साधु-साध्वियों ने प्रवेश पा लिया। विभिन्न दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन का द्वार खुला और दो दशकों में ही तेरापंथ संघ का शैक्षणिक स्तर समुन्नत हो गया। इसके लिए समय-समय पर अध्यापन का कार्य स्वयं आचार्यश्री ने किया। परीक्षा, पाठ्यक्रमों का निर्माण, प्रोत्साहन,

प्रेरणा आदि बिंदुओं ने साधु-साध्वियों के मन में विद्या प्राप्त करने की एक अमिट प्यास जागृत कर दी जो कि आज भी उसी अतृप्त भाव से बढ़ती जा रही है।

साध्वियों का विकास

तेरापंथ धर्म-संघ में साध्वियों की संख्या उत्तरोत्तर प्रवर्धमान रही है। संख्या-वृद्धि के साथ-साथ उनकी व्यवस्थाओं में सुधार होता रहा, पर विकास की सब संभावनाओं को व्यवस्था नहीं मिली। इस दृष्टि से उनके लिए विशेष अभ्युदय की अपेक्षा थी। अष्टमाचार्य श्री कालूगणी ने अपने उत्तराधिकारी आचार्यश्री तुलसी को संघ के भावी कार्यक्रम का संकेत देते हुए एक निर्देश दिया - 'अपने संघ में साध्वियां बहुत हैं किन्तु उनके विकास हेतु कोई अच्छी व्यवस्था नहीं है। तुम्हें इस ओर ध्यान देना है।' कालूगणी के निर्देशानुसार आचार्यश्री ने दायित्व स्वीकार करने के कुछ समय बाद ही साध्वियों के अध्यापन का कार्य शुरू कर दिया। आज साध्वी समाज का जो रूप बन पाया है, उसका पूरा श्रेय आचार्यश्री के कर्तृत्व को मिलता है। न केवल शिक्षा ही अपितु साधना, कला, साहित्य, वक्तृत्व, यात्रा आदि सभी क्षेत्रों में साध्वियां गतिशील हैं। आचार्यश्री के समक्ष नेतृत्व में उनकी प्रगति सम्बन्धी भावी संभावनाओं को भी नकारा नहीं जा सकता।

साहित्य-सेवा

तेरापंथ धर्म-संघ की साहित्यिक चेतना का ऊर्ध्वारोहण करने में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है आचार्यश्री तुलसी की सृजनशीलता ने। सृजन की आपमें अद्भुत क्षमता है। एक ओर धर्म-संघ की संपूर्ण जिम्मेदारी, दूसरी ओर साहित्य-संरचना की सतत् प्रवहमान स्रोतस्विनी । सृजन के लिए अपेक्षित एकान्त क्षण और एक विशेष मनोदशा के साथ प्रतिबद्ध न होकर आपने जब-तब सृजन किया है। राजस्थानी, हिन्दी, संस्कृत आदि भाषाओं में रचित आपके साहित्य में जीवन के

शाश्वत मूल्यों की अभिव्यक्ति है। सिद्धांत, दर्शन, योग, जीवनवृत्त, आख्यान और नैतिकता के सम्बन्ध में आपकी रचनाएं अपने युग की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। इन रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये एक साधारण पाठक और विद्वान पाठक दोनों के लिए उपयोगी है। **'जैन सिद्धांत-दीपिका, भिक्षु-न्याय-कर्णिका, मनोनुशासनम्, अणुव्रत के आलोक में अणुव्रत : गति-प्रगति, अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी, क्या धर्म बुद्धिगम्य है ? कालूयशोविलास, डालिम-चरित्र, माणक महिमा, चन्दन की चुटकी भली,** आदि पचासों ग्रन्थ आपकी साहित्यिक चेतना के उत्कृष्ट नमूने हैं।

साहित्य-निर्माण की क्षमता एक बात है और साहित्यकारों का निर्माण दूसरी बात है। आचार्यश्री ने मौलिक साहित्य-सृजन के साथ-साथ ऐसे साहित्यकारों को तैयार किया है, जिनकी कृतियों ने बौद्धिक मानस को प्रभावित किया है। तेरापंथ का आधुनिक साहित्य समीक्षकों की दृष्टि में युगचेतना का प्रतिनिधि साहित्य है। गद्य और पद्य दोनों धाराओं में नवीन और प्राचीन प्रायः सभी विधाओं में साहित्य का सृजन आचार्यश्री की विलक्षण सृजन-शक्ति का प्रतीक है।

आगम-संपादन

आचार्यश्री ने विक्रम संवत् २०१२ में आगमों के सुव्यवस्थित और प्रामाणिक संपादन का संकल्प किया। संकल्प के अनुसार काम शुरू हुआ। पचीस-तीस साधु-साध्वियों की एक टीम जुट गयी। प्रारम्भिक वर्षों में अनुभव और साधन-सामग्री की कमी के कारण जो हुआ वह संतोषजनक नहीं हो पाया। ज्यों-ज्यों कार्य करने का अनुभव बढ़ा, सामग्री सुलभ हुई, सम्पादित कार्य पर विद्वानों की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई तो सम्पादन-कार्य को और अधिक व्यापक और वैज्ञानिक पद्धति से करने का निर्णय ले लिया गया। गणाधिपति श्री तुलसी इस आगम-सम्पादन कार्य के वाचनाप्रमुख हैं तथा आचार्यश्री महाप्रज्ञजी

इसके प्रधान विवेचक और सम्पादक हैं। आप दोनों के नेतृत्व में आगम-कार्य सतत् गतिशील रहा है।

महिला-जागरण

आचार्यश्री ने महिला-समाज की चेतना को जागृत किया। उसे अपने अस्तित्व का बोध कराया और 'नया मोड़' कार्यक्रम के माध्यम से जीर्ण-शीर्ण तथा रूढ़ परम्पराओं को तोड़ने का आह्वान किया। एक तीव्र ऊहापोह के बाद समाज के वे अवांछित मूल्य एक झटके के साथ टूट गए। आज महिलाएं अनेक कुरूढ़ियों से मुक्त हो चुकी हैं। महिला-संगठनों के माध्यम से उनकी शक्ति का जागरण और उपयोग हो रहा है । इससे और कुछ हुआ या नहीं, पर महिलाओं का हौसला बढ़ा है, उनकी स्थिति मजबूत हुई है और वे कुछ क्षेत्रों में पुरुषों का भी पथ-दर्शन कर सकने की क्षमता अर्जित कर चुकी हैं। इस स्थिति-निर्माण में युगीन परिस्थितियों का भी अलबत्ता प्रभाव रहा है, किन्तु सामाजिक मानदण्डों को बदलने में आचार्यश्री के प्रयत्न ही शीर्षस्थानीय बनकर ठहरते हैं।

युवा-शक्ति का नियोजन

आपने धार्मिक अवस्था से भटके हुए युवकों को एक दिशा दी है, गति दी है और दिया है अनुकूल मोड़। वर्षों से उपेक्षित युवा पीढ़ी आचार्यश्री की प्रेरणा पाकर अपने दायित्व के प्रति सजग हो गयी। युवक-सम्मेलनों में सैकड़ों-सैकड़ों प्रबुद्ध युवकों की उपस्थिति इस तथ्य को प्रमाणिक करती है कि धर्म के प्रति धारणाएं बदली हैं। नैतिक मूल्यों के प्रति उनका दृष्टिकोण अधिक उदार बना है। अध्यात्म की चर्चा व उसके प्रयोग में उन्हें रसानुभूति होती है। वे भौतिकता के एकांगी विकास के दुष्परिणामों से संत्रस्त होकर चारित्रिक मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठा देना चाहते हैं। उनके इस परिवर्तन का प्रमुख कारण है रूढ़ परम्परावादी धर्म की आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुति। आचार्यश्री ने तेरापंथ की मौलिक चिंतनशील धारा को जिस रूप में विश्लेषित किया है, कोई भी चिंतनशील व्यक्ति उससे आकृष्ट हुए बिना नहीं रह

सकता। आपने धर्म को, धर्मस्थानों और धर्मग्रन्थों की परंपरागत परिधि से मुक्त कर जीवन-व्यवहार में उसके प्रयोग पर बल दिया। स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय से मुक्त होकर जो धर्माचरण किया जाता है वही व्यक्ति का आलम्बन बन सकता है।

अणुव्रत-आन्दोलन

'अणुव्रत' राष्ट्रीय चरित्र को समुन्नत बनाने का उपक्रम है। जिस समय राष्ट्र के नागरिकों की नैतिक मूल्यों में आस्था कम होने लगी, स्वार्थचेतना विस्तार पाने लगी, उस समय आपने व्यापक स्तर पर नैतिकता को प्रतिष्ठित करने का आह्वान किया। किसी संप्रदाय विशेष के आचार्य द्वारा एक असाम्प्रदायिक राष्ट्रीय अभियान चलाने का वह विरल अवसर तेरापंथ धर्म-संघ को मिला। प्रबुद्ध व्यक्ति अणुव्रत से प्रभावित हुए। समाचार-पत्रों में उसकी चर्चा हुई। लोगों ने समझा कि रूढ़ता, शोषण, हिंसा, युद्ध, घृणा आदि धर्म के दोष हैं। जिस धर्म में इनका प्रतिकार नहीं है वह मानव धर्म नहीं हो सकता ।

इन्हीं सब तथ्यों को ध्यान में रखकर आचार्यश्री ने 'अणुव्रत' की दीपशिखा हाथ में ली। अणुव्रत के आलोक से केवल लोक चेतना ही आलोकित नहीं हुई अपितु तेरापंथ धर्म-संघ भी प्रभासमान हो उठा। आज तेरापंथ की जो छवि राष्ट्र की प्रबुद्ध जनता के सामने है, उसका बहुत कुछ श्रेय 'अणुव्रत आन्दोलन' को है, जो आचार्यप्रवर के उर्वर मस्तिष्क की देन है। अणुव्रत को आज राष्ट्रीय आंदोलन की प्रतिष्ठा प्राप्त है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इ) ने अणुव्रत आन्दोलन को राष्ट्रीय एकीकरण को मजबूत करने का आंदोलन मानते हुए उसके प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को ३१ अक्टूबर, १९९३ को 'इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार' से सम्मानित किया था ।

जैन विश्व भारती

आचार्य तुलसी के शासनकाल की तेरापंथ धर्मसंघ को एक विशिष्ट उपलब्धि है - जैन विश्व भारती। यह शिक्षा, साधना, शोध,

संस्कृति और सेवा के क्षेत्र में एक साथ काम कर रही है। जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए इसके शिक्षा-विभाग समण संस्कृति संकाय द्वारा नियमित परीक्षाएं समायोजित होती हैं, जिनमें हजारों विद्यार्थी भाग लेते हैं। शोध के क्षेत्र में आगम संपादन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और आज भी उसकी गति-प्रगति में सहयोगी हैं।

यहां पर स्थित 'तुलसी अध्यात्म नीडम्' प्रेक्षाध्यान, योग साधना आदि के लिए साधकों को व्यवस्था प्रदान करता है और नाना कालावधि के शिविर भी समायोजित करता है। जैन संस्कृति, इतिहास को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने वाली **तुलसी कला प्रेक्षा** भी अनुपम है और पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र है।

अभी कुछ वर्ष पूर्व जैन विश्व भारती के अन्तर्गत 'जैन विश्व भारती संस्थान' के नाम से मान्य विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। भारत सरकार की मान्यता प्राप्त जैनों का यह पहला विश्वविद्यालय है।

आचार्य भिक्षु ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र की जिस निर्मल साधना के लिए एक धर्म-संघ की नींव डाली थी, वह आचार्यश्री तुलसी के प्रयासों से अधिक गहरी हुई है।

महाप्रयाण

आचार्य तुलसी का महाप्रयाण वि.सं. २०५४, आषाढ़ कृष्णा ३ (२३ जून, १९९७) को गंगाशहर तेरापंथ भवन में हुआ। उस समय उनकी अवस्था ८३ वर्ष की थी।

प्रश्न :

१. आचार्य तुलसी जब पदासीन हुए उस समय उनकी क्या उम्र थी ?

२. आचार्यश्री तुलसी ने पदासीन होते ही कौन-सा कार्य हाथ में लिया ?

३. तेरापंथ समाज को आचार्यश्री की कौन-कौन सी देन है ? संक्षेप में बताओ।

४. जैन विश्व भारती के विषय में आप क्या जानते हैं ?

५. जैनों का पहला विश्वविद्यालय कौन-सा है ?

७

मनीषी आचार्यश्री महाप्रज्ञ

विश्व के रंगमंच पर ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं होता, जिसका जीवन में तारतम्य न हो, जिसे उदय और अनुदय का अनुभव न हो, जिसने सुख और दुःख का स्पर्श न किया हो, जिसमें प्रकाश और अंधकार, सत् और असत्, मृत्यु और अमरत्व, पराक्रम और मंदता का मिलन न हो ।

आचार्यश्री इन सभी अवस्थाओं से गुजरने वाले एक व्यक्ति हैं जिन्होंने इन विरोधी अवस्थाओं को समभाव से छुआ है और अपनी गतिशीलता को बनाए रखा है।

आप संत पहले हैं और विद्वान् या दार्शनिक बाद में। संत वह होता है, जो जंगल में जाकर एकान्त साधना में जुट जाए। वह भी संत होता है, जो भौतिक आकर्षणों के बीच रहता हुआ भी अनाकर्षित रहे। चारों ओर होने वाले तुमुल कोलाहल में जीता हुआ भी, अशब्द, बोलता हुआ भी मौन रहे और स्थिर रहता हुआ भी गतिमान रहे।

आप दृश्य जगत् में विद्वान् पंडित और प्रखर दार्शनिक हैं। आशुकवि, मधुर वक्ता और उच्च कोटि के लेखक भी हैं।

आप अदृश्य जगत् के साधक और योगी हैं। आपका अन्तःकरण पवित्र, भावना विशुद्ध और जीवन खुली पुस्तक के समान है। आप अत्यन्त सहिष्णु, पापभीरू, करुणाशील और सत्यनिष्ठ हैं। आप अन्तश्चेतना की सन्निधि में रहते हैं। बाह्य घटनाएं घटित होती हैं, किन्तु मात्र द्रष्टा बनकर उन घटनाओं को देखते हैं, भोगते नहीं ।

संस्कृत के अपूर्व आशुकवि

आपकी विद्वता शिखर को चूमती है। प्रारम्भ से ही संस्कृत भाषा आपकी स्वभाषा बन गयी और इस भाषा को आत्मसात् कर, आपने संस्कृत भाषा के विशाल साहित्य-भंडार का पारायण कर लिया।

सन् १९५९ की बात है। आचार्यश्री तुलसी कलकत्ता यात्रा के अवसर पर बनारस पधारे। वहां के संस्कृत महाविद्यालय के विशाल प्रांगण में प्रवचन आयोजित हुआ। डॉ. मंगलदेव शास्त्री का सान्निध्य था। पण्डितों, प्राध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने 'स्याद्वाद' विषय पर सुनना चाहा। मुनिश्री ने एक घण्टे तक संस्कृत में प्रवचन किया। उपस्थित पंडितों से अधिकांश प्रसन्न हुए किन्तु कुछ अप्रसन्न भी हुए। उन्होंने आपको प्रश्नों के कटघरे में खड़ा कर दिया। संस्कृत में ही प्रश्न और संस्कृत में ही उत्तर, क्रम चलता रहा। अब आशुकवित्व के लिए विषय दिए जाने लगे। किसी ने राष्ट्रसंघ पर आशु-कवित्व चाहा तो किसी ने और-और विषयों पर । परीक्षा चालू रही। अब समस्यापूर्ति का दौर प्रारम्भ हुआ। 'कर्दन्त्यमी मानवाः', 'सरस्यामालस्यादिव पतति पाटीरपवनः', 'न रजनी न दिवा न दिवाकरः', आदि संस्कृत में समस्याएं दी गयीं और अविलम्ब उनकी पूर्ति करने के लिए कहा गया।

मुनिश्री (वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ) अविचल भाव से कविता करते रहे। सारी परिषद् अवाक् और मंत्रमुग्ध। कुछ स्थितिपालक विद्वानों ने कहा - 'इस संत ने कुछ सिद्धि प्राप्त कर रखी है।' किसी पंडित ने कहा - 'इसे कर्णपिशाचिनी का इष्ट प्रतीत होता है।' अपनी इच्छा के अनुसार सब अपनी-अपनी धारणा व्यक्त कर रहे थे। आप शान्तमुद्रा में मुस्कराते रहे। जय-पराजय का प्रश्न ही नहीं था। फिर भी एक पार्षद ने कहा - 'मुनिश्री आपने बाजी मार ली।'

सन् १९५५ में पहली बार आचार्यश्री तुलसी पूना पधारे। वहां के कार्यकर्ताओं ने कहा - यह पंडितों की नगरी है। यहां आप कोई कार्यक्रम न करें, अन्यथा हार खानी पड़ेगी' उनको सुना, वहां रहे।

तिलक विद्यापीठ, वाग्वर्द्धिनी सभा, डेक्कन कालेज आदि में कार्यक्रम हुए। पंडितों का जमघट। प्रवचन से पूर्व और प्रवचन के पश्चात् के उनके विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर देखा। मुनिश्री के आशुकवित्व को सुनने के लिए लोग इतने लालायित रहे कि मांग कभी पूरी हुई ही नहीं। आपकी संस्कृत रचनाएं हैं - 'सम्बोधि, मुकुलम्, अश्रुवीणा आदि।

प्राकृत भाषा के प्रवक्ता

आप प्राकृत भाषा के भी प्रकाण्ड विद्वान् हैं। आचार्यश्री का चातुर्मास बम्बई में था। पेन्सिलविया युनिवर्सिटी के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. नॉर्मन ब्राउन वहां आए। संपर्क हुआ। उन्होंने कहा - 'मेरे जीवन की एक कामना है कि मैं भगवान् महावीर की मूलवाणी (प्राकृत) में वक्तव्य सुनूं। आज तक मुझे वह सुनने को नहीं मिला।' आचार्यश्री का आदेश हुआ। आपने बीस मिनट तक प्राकृत में वक्तव्य देकर उन्हें मंत्रमुग्ध कर डाला। वक्तव्य सुनकर डॉ. ब्राउन गद्‌गद हो गए। उन्होंने कहा - 'मेरी भारत यात्रा सफल हुई।'

हिन्दी के मूर्धन्य लेखक

आज के साहित्य में मौलिक चिंतन बहुत कम मिलता है, केवल पिष्टपेषण ही अधिक होता है। आप मौलिक चिंतकों की श्रेणी में अग्रणी हैं। आपने बहुत लिखा, किन्तु किसी से लेकर नहीं। प्रत्येक ग्रंथ में आपका मौलिक चिंतन प्रस्फुटित हुआ है। आपने भगवान् महावीर को पढ़ा, महात्मा बुद्ध को पढ़ा, उपनिषद् पढ़े, वेद पढ़े और न जाने क्या-क्या पढ़ा। उस ज्ञान में अपने-आपको निमग्न किया, उसे अपना बनाया और फिर जो कुछ कहा वह प्रामाणिक कहा। प्राचीन विचारों की संगतियां और विसंगतियां सभी पर आपने दृष्टिपात किया और उनका सही लेखा-जोखा किया।

आपने हिंदी साहित्य को समृद्ध करने का अथक प्रयास किया। आपके शताधिक ग्रंथ प्रकाशित हैं। एक विशेष बात यह है कि

गंभीरतम विषय पर लिखने के लिए भी आपको एकान्त की आवश्यकता नहीं होती। लोगों से घिरे रहते हुए भी आप अपना लेखन करते रहते हैं। पूछने पर कहते हैं - 'लोगों के बोलने या हो-हल्ला होने के कारण मेरे लेखन में कोई बाधा नहीं आती। मैं लिखता हूं, तब मन उसी में डूब जाता है। आसपास में क्या हो रहा है, इसका मुझे भान नहीं रहता।'

दूसरी बात है -आप लिखते समय उसकी विषय-सूची नहीं बनाते, लिखने के विषय-मात्र का निर्धारण कर लेते हैं। लिखने बैठते हैं, विचार चलता है और साथ-साथ लेखनी भी गतिशील हो जाती है। जहां भी विचारों का अवरोध हुआ, वहां लेखनी नीचे रख देते हैं। दूसरे दिन ही उसको आगे बढ़ाते हैं।

आपकी लेखन-शैली सूत्रात्मक है। शब्द अल्प, वाच्य अधिक। भावों की गहराई पग-पग पर परिलक्षित होती है। जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, जैन न्याय का विकास, अहिंसा-तत्त्व-दर्शन, महावीर का पुनर्जन्म, श्रमण महावीर आदि ग्रंथ जैन दर्शन के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं।

जैन आगमों के प्रशस्त व्याख्याकार

आचार्य तुलसी के वाचना-प्रमुखत्व में चल रहे आगम-सम्पादन-कार्य के आप प्रधान निर्देशक, संपादक और विवेचक हैं। आपकी कर्त्तव्यनिष्ठा और श्रमपरायणता ने इस कार्य को बहुत आगे बढ़ाया है। ग्यारह अंग, बारह उपांग, मूल और छेद सभी ३२ आगमों का पाठ सम्पादित हो चुका है। अनेक आगमों की संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और टिप्पण भी प्रकाश में आ चुके हैं। इस विद्वतापूर्ण सम्पादन और विवेचन को देखकर जैन जगत् के मूर्धन्य विद्वानों ने कहा - 'यह कार्य अभूतपूर्व है। समूचा जैन-संघ इसका चिर ऋणी रहेगा।' इसी संदर्भ में कुछेक विद्वानों ने आपको चलते-फिरते विश्वकोष की उपमा से उपमित किया। आगमों का कौन-सा शब्द, कौन-सा स्थल कहां है, यह पूछने मात्र की देरी होती है कि उत्तर तुरन्त

मिल जाता है। माना कि सारा आगम साहित्य आपकी निर्मल मेधा में प्रतिबिम्बित है।

आचारांग के भाष्यकार

जैन आगमों में 'आचारांग' (प्रथम श्रुतस्कंध) सबसे प्राचीन है। उस पर चूर्णि और टीका है। आचार्य महाप्रज्ञ ने उस पर संस्कृत में भाष्य लिखकर एक विधा का श्रीगणेश किया है। यह भाष्य प्रकाशित हो चुका है।

आज के विवेकानन्द

आचार्यश्री तुलसी दिल्ली में थे। साहू शांतिप्रसाद जैन तथा श्रीमती रमा जैन के निवेदन पर आचार्यश्री उनके निवास-स्थान पधारे। रात्रि में गोष्ठी का आयोजन किया गया। राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि अनेक मूर्धन्य विद्वान् वहां उपस्थित थे। श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने आचार्यश्री से कहा - 'आपको इसलिए महान् मानता हूं कि आपने हमें मुनिश्री नथमलजी के रूप में एक 'विवेकानन्द' दिया है। हम विवेकानन्द के समय में नहीं थे। हमने उनको नहीं देखा था, केवल उनके विषय में पढ़ा मात्र है। मुनिश्री आज हमारे समक्ष है। आपके साहित्य से हम परिचित हैं। आप आज के विवेकानन्द हैं।

योग-साधना

आप प्रारम्भ से ही अध्यात्म से ओतप्रोत रहे हैं। अंतःचेतना का स्पर्श उनको सदा लुभाता रहा है। निन्दा-स्तुति, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, सुख-दुःख इन द्वंद्वों के प्रति आप सदा सम रहे हैं। समता आपका आत्मधर्म है। यह विरासत में प्राप्त है। अनेक प्रवृत्तियों में संलग्न रहकर भी आप नीरकमलवत् उनकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से मुक्त हैं। आप सदा विशिष्ट ध्यान-साधना में लगे रहते हैं। अब ध्यान आपके जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। ध्यान की गहराइयों में जाकर आपने बहुत पाया है। जब आप उन उपलब्धियों को हस्तगत

कर चुके, शास्त्रीय ज्ञान को अपना अनुभव बना चुके, तब आपने लिखा, कहा। उसके साक्षी हैं आपके द्वारा लिखित योग के ये ग्रंथ - 'मन के जीते जीत, चेतना का ऊर्ध्वारोहण, महावीर की साधना का रहस्य, जैन योग, मैं : मेरा मन : मेरी शांति आदि। इन रचनाओं में शाश्वत सत्य भरा है।

प्रेक्षाध्यान

आपके प्रायोगिक प्रयोगों से ऊर्जा-जागरण की एक प्रक्रिया का जन्म हुआ। यह प्रेक्षाध्यान के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसने हजारों-हजारों व्यक्तियों को भीतर झांकना सिखाया है और तनाव मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है।

साहित्य-सर्जन आपका प्रमुख कर्म नहीं है। प्रमुख कर्म है आत्म-सन्निधि प्राप्त करने का प्रयत्न । वह निरन्तर चलता है। इस निरन्तर गतिमत्ता से आपने संघ, समाज या देश को बहुत दिया । यदि कहीं कुछ लिया भी है तो उसे हजार-लाख गुना कर पुनः लौटा दिया।

राजस्थान के झुंझुनूं जिले में एक छोटा-सा गांव है टमकोर। वहां आपका जन्म चौरड़िया परिवार में वि. सं. १९७७, आषाढ़ कृष्णा १३ (१४ जून, १९२०) को हुआ। आपके पिता का नाम श्री तोलारामजी था। दस वर्ष की अवस्था में आप अपनी मां बालूजी के साथ तेरापंथ के आठवें आचार्य कालूगणी के पास दीक्षित हुए। मुनि तुलसी (आचार्य तुलसी) आपके शिक्षा गुरु थे। उस समय अध्यापन-परिपाटी में ग्रंथों को कंठस्थ करने पर अधिक बल था। आपने अनेक ग्रंथ कंठस्थ किए, पर समझने की क्षमता विकसित नहीं हुई । सोलह वर्ष की अवस्था पार करते-करते कुछ विकास की रेखाएं प्रस्फुटित हुईं। कुछ ही वर्षों बाद आपने लिखना शुरू कर दिया। आपने जैन जगत् के मूर्धन्य विद्वान के रूप में प्रख्यात प्राप्त की।

तेरापंथ धर्मसंघ के प्रत्येक उन्मेष में आपका अविरल योगदान रहा है। आपकी नुकीली मनीषा ने अनेक नए आयाम खोले हैं, जो आज भी

आपकी गुण-गाथा गा रहे हैं। आप आचार्य तुलसी की वाणी के प्रशस्त भाष्यकार हैं। तेरापंथ के बाह्य और आन्तरिक विकास में आपका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

महाप्रज्ञ

आचार्यश्री तुलसी ने गंगाशहर में वि. सं. २०३५, कार्तिक शुक्ला १३ (१२ नवम्बर, १९७८) को आपको 'महाप्रज्ञ' की उपाधि से अलंकृत किया। यह शब्द अतीन्द्रिय-ज्ञानियों तथा विशिष्ट आचार्यों-मुनियों के लिए जैन आगमों में प्रयुक्त है।

'महाप्रज्ञ' की उपाधि से अलंकृत करते समय आचार्यश्री तुलसी ने कहा - 'मुनि नथमलजी की अपूर्व सेवाओं के प्रति समूचा तेरापंथ संघ कृतज्ञता ज्ञापित करता है। यह अलंकरण उस कृतज्ञता की स्मृति मात्र है।'

मुनि नथमल बने युवाचार्य और आचार्य

वि. सं. २०३५, माघ शुक्ला ७ (३ फरवरी, १९७९) को राजलदेसर (राजस्थान) में मर्यादा महोत्सव के अवसर पर आचार्य तुलसी ने अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन किया। मुनि नथमल अब युवाचार्य महाप्रज्ञ बन गए।

वि. सं. २०५० (१८ फरवरी, १९९७) को सुजानगढ़ (राजस्थान) में मर्यादा महोत्सव के अवसर पर आचार्य श्री तुलसी ने आचार्य पद का विसर्जन कर युवाचार्य महाप्रज्ञ को तेरापंथ धर्मसंघ के दसवें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। यह एक अभूतपूर्व घटना थी। युवाचार्य महाप्रज्ञ आचार्य बन गए।

वि. सं. २०५१, माघ शुक्ला (५ फरवरी, १९९५) को देश की राजधानी नई दिल्ली में मर्यादा महोत्सव के अवसर पर महाप्रज्ञ आचार्य पदाभिषेक समारोह आयोजन चालीस हजार की मानव-मेदिनी के बीच संपन्न हुआ। इस भव्य समारोह में लोकसभा अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल, मुख्य चुनाव आयुक्त श्री टी. एन. शेषन सहित अनेक केन्द्रीय मंत्री, साहित्यकार, पत्रकार एवं गणमान्य लोगों ने भाग लिया। इस

दिन आचार्य महाप्रज्ञ तेरापंथ के दसवें आचार्य पद पर विधिवत् अभिषेक हुआ।

गणाधिपति तुलसी के स्वर्गारोहण के तत्काल बाद आचार्य महाप्रज्ञ अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन कर निश्चिन्त हो गए। गंगाशहर में भाद्रव शुक्ला १२ को लगभग पचास हजार की उपस्थिति में महाश्रमण मुनि मुदितकुमार को युवाचार्य पद पर मनोनीत किया उनके अलंकरण 'महाश्रमण' को मूल नाम के क्रम में परिवर्तित कर दिया।

युवाचार्य की अनुप्रेरणा से तेरापंथ संघ ने दिल्ली में आचार्य महाप्रज्ञ को 'युगप्रधान' की उपाधि से वर्धापित किया। वह दिन था (२० सितम्बर, १९९९)।

महाप्रयाण

आपने ९० वर्ष की अवस्था में सरदारशहर में वृद्धिचंदजी गोठी की हवेली के समतल भाग के उत्तर-पश्चिम कक्ष में द्वितीय वैशाख कृष्णा ११, वि.सं. २०६७ (९ मई, २०१०) को जीवन की अंतिम श्वास ली।

आपके अंतिम संस्कार के समय उपस्थित मानवमेदिनी तेरापंथ धर्मसंघ में एक कीर्तिमान बन गई। गांधी विद्या मंदिर से आगे। रतनगढ़-सरदारशहर हाइवे पर बच्छावत परिवार प्रदत्त भूमि पर आपकी पार्थिव देह अग्नि को समर्पित की थी। जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा उस भूमि पर आचार्य महाप्रगज्ञ समधि स्थल पर निर्माण करा दिया गया है।

प्रश्न :

१. आचार्यश्री महाप्रज्ञ के माता-पिता के नाम बताओ।

२. आपके शिक्षा-गुरु और दीक्षा-गुरु कौन थे ?

३. आचार्य की किन्हीं तीन विशेषताओं का उल्लेख करो।

४. आचार्यश्री के जैन दर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थों के नाम बताओ।

८

मंत्री मुनि की विशेषताएं

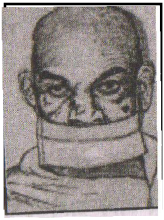

मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी का ऐतिहासिक जीवन तेरापंथ के इतिहास में बहुत महत्त्व रखता है। तेरापंथ संघ में जैसा सम्मान उन्हें मिला वैसा संभवतः आज तक किसी को नहीं मिला। उनकी गण-निष्ठा अपूर्व थी। गणी के प्रति उनके जैसा विनय-भाव अन्यत्र देखने को बहुत ही कम मिलता था। वे गण और गणी सबका विकास चाहते थे। वे आचार्यश्री की इच्छा का बहुत सम्मान व ध्यान रखते थे। उनकी गंभीरता अपूर्व थी। बात को पचाने की शक्ति विलक्षण थी। किसको क्या कहना चाहिए, किसको क्या नहीं, कब कितना कहना चाहिए, इसका उन्हें पूर्ण विवेक था। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में - 'उनके पास कोई भी बात निःसंकोच रखी जा सकती थी। उससे कोई खतरा नहीं होता। भले कोई लाख प्रयत्न करे, परन्तु उनके पेट से जो बात नहीं निकलने की है, वह नहीं ही निकलती।'

सबके प्रति समभाव रखना उनके जीवन का सहज सूत्र था। कोई उनकी सेवा करे या न करे, सेवा करने वाले पर फूलते नहीं और न करने वाले पर नाराज नहीं होते थे।

वे साहसी थे। आचार्यश्री के शब्दों में -'उनके जैसे दिल और दिमाग की मजबूती समूचे संघ को टटोलने पर भी नहीं मिलती। वे किसी भी स्थिति में घबराते नहीं थे।'

उनकी गुरुभक्ति अद्वितीय थी। एक बार आचार्यप्रवर ने कहा - 'मैं जो कुछ कह देता हूं, उनमें वे परिवर्तन करने का प्रयत्न नहीं करते। दूसरों की प्रेरणा उन पर कुछ भी काम नहीं करती।' वे जो कुछ कहते थे,

वह तभी कहते थे जबकि वे स्वयं वैसा कहना आवश्यक समझते थे।

उनकी स्मरण-शक्ति विलक्षण थी। पचासों वर्षों पहले की हजारों बातें उनके मुंह लगी जैसी थीं।

वे गुणानुरागी थे। सभी के गुणों का आदर करते थे। आगे बढ़ने के लिए दूसरों को प्रोत्साहन देना जानते थे।

उनको अहंकार छू तक नहीं सका। वे कहते - 'हम किस बात का घमंड करें जबकि रोटी के लिए हमें हाथ पसारना पड़ता है।

सहनशीलता

आचार्यश्री कालूगणी का चातुर्मास बीकानेर में था। उस समय वहां विरोध का वातावरण बहुत था । संतों को बाहर आने-जाने में भी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। एक बार मंत्री मुनि शौचार्थ जंगल जा रहे थे। पीछे से आते हुए एक तांगे वाले ने कसकर एक चाबुक उनकी पीठ पर ऐसा जमाया कि जैसे घोड़े की मांसल पीठ समझ ली हो । अपनी धुन में मस्त ५३ वर्षीय मंत्री मुनि चुपचाप अपने स्थान पर लौट आये। किसी को इस बात का पता तक नहीं चलने दिया। उस पीठ पर चाबुक की लकीर का जब संतों को पता लगा तो मंत्री मुनि ने कहा -'जीवन सहने के लिए है, कहने के लिए नहीं।'

मेरे हाथ में मेरा गेडिया

मंत्री मुनि के बारे में कहा जाता था कि वे शासन के स्तम्भ थे, उनकी इच्छा का मान स्वयं आचार्यश्री करते थे, परंतु उन्होंने अपने को साधारण साधु की भूमिका से ऊंचा कभी नहीं समझा।

एक बार एक श्रावक ने आचार्यश्री से अपनी सिफारिश करवाने के लिए मंत्री मुनि से बार-बार निवेदन किया, किन्तु मंत्री मुनि का उत्तर था- 'मैं क्या कर सकता हूं? गुरुदेव से प्रार्थना करो।'

श्रावक ने कहा -'महाराज ! सारा काम आपके हाथ में ही है। आप चाहें जैसा कर सकते हैं।' मंत्री मुनि ने बड़े विनोद भाव से कहा - 'मेरे हाथ में मेरा गेडिया है।'

उपयोग का अधिकार

मंत्री मुनि का सारा जीवन आचार्यों की सेवा में ही बीता था। ७६ वर्ष की आयु में शरीर के अस्वस्थ होने पर उनको अलग रहना पड़ा। पहली बार अलग विहार कर जब वे बीदासर पधारे तो वहां उनकी चिकित्सा एक बंगाली डॉक्टर ने की। डॉक्टर ने कहा -'महाराज ! सर्दी का मौसम है, आप तख्त पर सोया करें। जमीन पर नहीं।' यों मंत्री मुनि को आचार्यश्री के निकट तख्त पर सोने की आज्ञा थीं, परंतु कभी उन्होंने इस आज्ञा का उपयोग नहीं किया। मुनिश्री सुखलालजी व मुनिश्री सोहनलालजी ने निवेदन किया -'आप क्यों संकोच करते हैं ? डॉक्टर कह रहा है। आपको तो आचार्यश्री की आज्ञा है।' अपनी अनुभवी वाणी में उन्होंने कहा -'अरे भाई! आचार्यप्रवर की सभी बख्शीसें काम में लेने के लिए नहीं होतीं। सिर चढ़ाने के लिए होती हैं।'

मंत्री मुनि का जन्म राजस्थान में उदयपुर जिले के गोगुन्दा गांव में वि. सं. १९२६, श्रावण शुक्ला २ को हुआ। १८ वर्ष की उम्र में तेरापंथ के पांचवें आचार्य मघवागणी के पास दीक्षित हुए। ९१ वर्ष की अवस्था में वे सरदारशहर में समाधिमरण को प्राप्त हुए वास्तव में तेरापंथ की वे एक विरल विभूति थे।

सहज योगी जिसको कहते हैं, वे मंत्री मुनि थे। उनके सहवास में रहने वाले साधु-श्रावक उनके गुणों को आज भी बड़ी श्रद्धा से याद करते हैं।

प्रश्न :

१. तेरापंथ में मंत्री मुनि का क्या स्थान था ?

२. उनके जीवन में क्या-क्या विशेषताएं थीं ?

३. उन्होंने कितने आचार्यों का शासन-काल देखा ?

४. उनके जीवन की कोई घटना शब्दों में बताओ।

९

सत्यनिष्ठ बालमुनि कनक

कनक मुनि का जन्म मध्यप्रदेश में 'वणी' नामक गांव में हुआ था। उनके पिता का नाम कन्हैयालालजी था। कन्हैयालालजी ३५ वर्ष के हुए तब उनके मन में साधु बनने की भावना पैदा हुई। साधु बनने के पहले उन्होंने अपने आपको तोला। साधु-जीवन एक कठोर जीवनचर्या है। हर व्यक्ति साधु-जीवन नहीं निभा सकता। जिसके मन में सच्चा वैराग्य हो वही व्यक्ति साधु-जीवन स्वीकार कर सकता है। जिसके मन में अंतर वैराग्य नहीं होता वह साधु बन जाने पर भी उसको जीवन भर नहीं निभा सकता। बालक कनक की अवस्था उस समय ११ वर्ष की थी। बालक ने पिता को साधना करते देखा। उसके संस्कार जाग उठे। बालक ने सोचा - 'पिताजी दीक्षा लेंगे तो मैं भी उनके साथ साधु बनूंगा।'

कन्हैयालालजी को बालक कनक की भावना का पता चला तो उन्होंने उसे साधु-जीवन की कठोरता से परिचित कराया, परन्तु बालक ने आग्रह किया कि मैं तो आपके साथ ही दीक्षित होना चाहता हूं। कन्हैयालालजी बालक की भावना से बड़े खुश हुए। वे पुत्र को लेकर आचार्यश्री तुलसी के पास दीक्षा की प्रार्थना करने उपस्थित हुए। आचार्यश्री ने उनके वैराग्य की परीक्षा की और दीक्षा की स्वीकृति दे दी। वि. सं. १९९५, कार्तिक शुक्ला ३ को सरदारशहर में उनकी दीक्षा संपन्न हुई। दीक्षा के थोड़े समय बाद ही कन्हैयालालजी की भावना में शिथिलता आने लगीं। वे साधु जीवन के कष्टों से घबराकर पुनः घर जाने का निश्चय करने लगे।

एक दिन की बात है। पिता ने पुत्र से कहा -'हमें घर लौट जाना

चाहिए। हम जिस उद्देश्य से दीक्षित हुए हैं, वह यहां पूरा नहीं होता। साधना तो घर पर भी हो सकती है।' पिता को यह विश्वास नहीं था कि पुत्र बात को टाल देगा। उन्होंने सोचा कि मैं जब कष्टों से घबरा गया हूं तो यह कैसे नहीं घबराया होगा ? यह तो अभी बालक है। मुनि कनक ने ज्योंही पिता के मुंह से यह बात सुनी तो उन्होंने गंभीर मुद्रा में कहा -'आप ऐसे क्यों कह रहे हैं ? हमने वैराग्य से दीक्षा स्वीकार की है। हमें दीक्षा के लिए २-३ महीने ही हुए हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि आपके मन में यह भावना क्यों पैदा हुई ?'

पिता ने बात बदलते हुए कहा -'नहीं, मैंने तो तुम्हारी परीक्षा करने के लिए यह बात कही थी। मैं जानना चाहता था कि संयम में तुम्हारा मन लगा है या नहीं ?'

कुछ दिन बीते, पिता-पुत्र में कोई वार्तालाप नहीं हुआ, किन्तु जिस व्यक्ति की एक बार भावना बदल जाती है उसका मन बार-बार उसी तरफ दौड़ने लग जाता है। एक दिन पुनः मुनि कन्हैयालालजी ने एकांत देखकर मुनि कनक से कहा -'हमने बड़े वैराग्य से घर छोड़ा, कष्ट सहे, किन्तु बड़े दुःख का विषय है कि यहां साधना नहीं हो रही है, अतः अच्छा होगा, हम पुनः घर चलें।' मुनि कनक को उनकी भावना समझते देर नहीं लगी। मुनि कनक ने कहा -'आप अपनी गलती दूसरों के सिर पर न थोपें। कष्टों से घबरा तो आप गए और दोष संघ पर मढ़ रहे हैं। यह आपके लिए उचित नहीं। मुझे लगता है आप साधु-जीवन को पूर्णतया नहीं निभा सकते। आपकी आत्मा अपने लक्ष्य से विचलित हो चुकी है। मैं आपकी बात किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकता।'

अपने ११ वर्षीय पुत्र कनक का उत्तर सुनकर पिता आश्चर्यचकित होकर सोचने लगे - मेरा दूसरा प्रयत्न भी सफल न हो सका, परन्तु कहीं यह बात आचार्यश्री को मालूम न हो इसलिए वे और उपाय सोचने

लगे। पिता चाहता था पुत्र को घर ले जाना और पुत्र चाहता था पिता को संयम में पुनः स्थिर करना।

सायंकाल प्रतिक्रमण के पश्चात् मुनि कनक आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए। वंदना कर हाथ जोड़ निवेदन किया- 'गुरुदेव ! क्या कोई मुनि शंकित होकर गण में रह सकता है ? गुरुदेव ने कोमल शब्दों में कहा -'शंका सहित शासन में नहीं रहना चाहिए। आज तू यह क्यों पूछ रहा है ? इससे तेरा क्या तात्पर्य है ?' बालमुनि ने बात छिपाते हुए कहा -'मैं जानना चाहता हूं ।' आचार्यश्री ने आगे कुछ पूछा नहीं, बात समाप्त हो गयी। इधर मुनि कन्हैयालालजी के मन में घबराहट हुई। सोचने लगे, कनक मेरी बात गुरुदेव को निवेदित न कर दे, इसलिए उन्होंने चाल चली। उन्होंने कहा -'यह मेरा कहना नहीं मानता, अपने मन से सारा काम करता है ।'आचार्यश्री ने तत्काल मुनि कनक को बुलाया। उलाहना देते हुए कहा -'भविष्य में शिकायत नहीं आनी चाहिए।' मुनि कनक ने मौन स्वीकृति दी । पिता का प्रयत्न चालू रहा । मुनि कनक की कड़ी परीक्षा थी। पिता चाहता था कि मुनि कनक को किसी प्रकार उपालंभ दिलाकर उसे विचलित कर दिया जाए। बालक का कोमल मन घबरा जाएगा और वह मेरे साथ चलने के लिए तैयार हो जाएगा। कुछ दिन बीते । पुनः एक दिन मुनि कन्हैयालालजी आचार्यश्री के पास आए और मुनि कनक के तथाकथित अविनयपूर्ण व्यवहार का जोश भरे शब्दों में निवेदन किया। तत्काल मुनि कनक को बुलाया गया। उपालंभ की भाषा में आचार्यश्री ने कहा - 'अभी तक तुम्हारी प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आया है। मैंने पीछे भी तुमको कहा था, जैसे तेरे पिताजी कहें वैसा किया कर। भविष्य में पुनः शिकायत आयी तो मैं तुझे नहीं पढ़ाऊंगा।' मुनि कनक आचार्यश्री का इस प्रकार उपालंभ सुनकर चिंता में पड़ गए। उनकी आंखे डबडबा आयीं। उन्होंने निवेदन किया -'मैं आपसे एकांत में कुछ प्रार्थना करना चाहता हूं।'

बाल मुनि के मस्तिष्क पर हाथ रखते हुए आचार्यश्री ने कहा -'जो कुछ तेरे मन में है वह बिना संकोच कह दे।' दो क्षण मौन रहने के बाद मुनि कनक ने विनम्र शब्दों में निवेदन किया -'आप मुझे मुनि कन्हैयालालजी के पास जाने के लिए कहते हैं, और वे मुझे घर ले जाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में मैं क्या करूं, आप ही फरमाइए ? मुनि कनक की इस बात से ही सारी स्थिति बदल गयी। आचार्यश्री ने कहा - 'तुमने मुझे पहले तो कभी नहीं कहा ? घर जाने की भावना कब से हुई है ?

'दो महीने हो गये, एक बार मैंने पूछा था -'शंकाशील साधु गण में रह सकता है क्या ? उसका तात्पर्य यही था। मैं सोचता रहा -'ये मेरे संसार पक्षीय पिता हैं, कहीं किसी प्रकार साधुपन से पतित न हो जाएं, किन्तु मेरा प्रयत्न सफल नहीं रहा इसलिए मैं आपको स्पष्ट निवेदन करने में संकोच करता रहा।' आचार्यश्री ने मुनि कनक को आश्वस्त किया और संयम में अधिक जागरूक रहने की शिक्षा दी।

मुनि कन्हैयालालजी को इस बात का पता चला तो वे और अधीर हो गये। उन्होंने अपनी बात को छिपाने की बहुत चेष्टा की, परन्तु सफल नहीं हो सके। आखिर वे अकेले ही तेरापंथ शासन को छोड़कर चले गये। कन्हैयालालजी के चले जाने पर आचार्यश्री ने सत्यनिष्ठ मुनि कनक से कहा-'देख तेरा पिता चला गया है और वह तुझे भी ले जाना चाहता है। तू जानता है साधुपन में कितनी कठिनाइयां आती है, तेरा क्या विचार है।'

मुनि कनक ने विनय-भरे शब्दों में कहा -'गुरुदेव साधुपन में पिता-पुत्र का क्या संबंध है ? मेरे पिता तो आप ही हैं। चाहे कितनी ही विपत्तियां आयें, मैं साधुपन को भंग नहीं कर सकता। मेरे लिए तो आपकी दृष्टि ही जीवन-धन है। जीवन-भर आपकी दृष्टि की आराधना करता रहूंगा।'

साढ़े ग्यारह वर्षीय बालक अपने संकल्प पर अटल रहा और निश्चिंत होकर गुरु-सेवा में अपनी साधना व अध्ययन में आगे बढ़ता रहा।

कनक मुनि बहुत सुन्दर व होनहार बालक थे। आचार्यश्री को भी वे बहुत प्रिय थे। उनके कंठ मधुर व तीखे थे। आचार्यश्री के साथ व्याख्यान में कंठ मिलाते तो उनके बाल कंठ की मधुरिमा लोगों को बहुत प्रिय लगती, परन्तु नियति को वह मान्य नहीं था। लाडनूं में मुनि कनक को अचानक बुखार आया। तीन-चार दिन बीत गये। बुखार कम नहीं हुआ, प्रत्युत बढ़ता ही गया। एक दिन वे बेहोश हो गये। परिचर्या बहुत की गयी, परन्तु सब निष्फल।

बालक होते हुए भी बड़े शान्त भाव से वेदना को सहते चले गये, मुंह से 'ओह' तक नहीं निकला। गुरुदेव दर्शन देने पधारे, पट्ट पर उनके सामने विराज गये। देखते-देखते गुरुदेव के सामने उनके प्राण-पखेरू उड़ गये। केवल छह महीने की संयम पर्याय पालकर वि. सं. १९९६, वैशाख शुक्ला ६ वे दिवंगत हो गए।

दशवैकालिक सूत्र के निर्माता आचार्य शय्यंभव के पुत्र 'मनक' भी छह महीने की संयम पर्याय पालकर दिवंगत हो गए थे, अतः आचार्यश्री ने मुनि कनक की मुनि मनक से तुलना करते हुए कहा कि 'कनक' वस्तुतः इस समय का मनक ही था।

प्रश्न :

१. दीक्षा के समय मुनि कनक की क्या अवस्था थी ?

२. कन्हैयालालजी ने घर जाने के लिए क्या कहा ?

३. उनके जीवन से तुम्हें क्या प्रेरणा मिलती है ?

४. मुनि कनक की दीक्षा कहां व किनके हाथों हुई ?

१०

देशभक्त भामाशाह

प्रत्येक जाति और धर्म में शूरवीर, उदार और राष्ट्रप्रेमी लोग होते हैं, लेकिन जैन धर्म में त्याग और संयम के संस्कारों के कारण ऐसे व्यक्ति अनुपात में अधिक मिलते हैं जिनमें सादगी, मितव्ययिता, निर्व्यसनता, उदारता और समाज हित की भावना का अधिक विकास हुआ है। वैसे जैनी केवल व्यापारी या व्यवसायी ही अधिक मात्रा में मिलते हैं, पर प्राचीनकाल में राष्ट्र और देश प्रेम के लिए सर्वस्व अर्पण करने वाले शूर, सेनापति, राजनीतिज्ञ मंत्री आदि देश या राज्य के लिए महत्वपूर्ण काम करने वालों की भी कमी नहीं थी। राजस्थान, गुजरात, मध्यभारत, कर्नाटक, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में अनेक ऐसे जैनी राजा, मंत्री, सेनापति और देश के लिए महत्वपूर्ण काम करने वाले हैं जिन्होंने समय उपस्थित होने पर सर्वस्व समर्पण कर दिया था। देश-प्रेम के लिए अपनी सम्पत्ति अर्पण कर ख्याति प्राप्त करने वाले ऐसे देश-भक्तों में भामाशाह का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

ओसवाल जाति के पूर्वज क्षत्रिय थे, जिन्हें जैनाचार्यों ने जैनी बनाया। क्षत्रिय होने के कारण जैन धर्म को स्वीकार करने के सैकड़ों वर्षों तक वे देश-रक्षा के लिए युद्ध करते रहे। क्षत्रिय-परम्परा का शौर्य और जैन धर्म अपनाने के कारण संयम, सादगी, विवेक प्रामाणिकता, व्यवहार-चातुर्य आदि के कारण समाज और देश में उन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

मेवाड़ पर अकबर का आक्रमण

मेवाड़ के इतिहास में महाराणा संग्रामसिंह को कौन नहीं जानता !

वे अपने समकालीन मुसलमान बादशाहों से मेवाड़ की स्वतंत्रता और राजपूत जाति के गौरव के लिए जीवन-भर लड़ते रहे। सन् १५५३ में महाराणा ने अपने विश्वस्त नर-रत्न भारमल को अलवर से बुलाकर रणथम्भौर के प्रसिद्ध दुर्ग का शासक नियुक्त किया था। भारमल मेवाड़ के एक ओसवाल (कावड़िया गौत्र) जैन घराने के रत्न थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि राजस्थान में जैनी अपनी वीरता, देशभक्ति, चतुराई और सच्चाई के कारण राज्य के बड़े से बड़े पदाधिकारी हुआ करते थे। भारमलजी के दो पुत्र थे - ताराचन्द और भामाशाह। दोनों ही बालक शस्त्र-विद्या में निपुण व शूरवीर थे। भारमल की मृत्यु के बाद महाराणा प्रताप ने भामाशाह को अपना मंत्री नियुक्त किया।

हुमायूं के बाद अकबर राजगद्दी पर आया। वह बड़ा चतुर व बुद्धिमान था। उसने देखा कि हिन्दुओं को केवल तलवार के बल पर नहीं जीता जा सकता, अतः उन्हें खुश करने के लिए उसने धार्मिक उदारता दिखायी। गौ-हत्या बन्द की। वर्ष में कई दिन किसी प्राणी की हत्या न करने की घोषणा करवायी व बड़े-बड़े राज्य-पद हिन्दुओं को दिए। अकबर के इस जाल में अनेक राजा फंस गए, परन्तु महाराणा प्रताप अपनी टेक पर अटल रहे।

अकबर ने महाराणा को झुकाने के लिए अनेक प्रयत्न किये, परन्तु वह सफल न हो सका, तब उसने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया।

घमासान युद्ध

फिर क्या था, घमासान युद्ध हुआ। अकबर की सेना का सेनापति महाराज भगवानदास का पुत्र मानसिंह था, जो पहले ही अकबर की अधीनता स्वीकार कर चुका था। दोनों ओर सेना की बहुत क्षति हुई, परन्तु अकबर की विशाल सेना के सामने महाराणा की छोटी सेना खुले मैदान में क्या मुकाबला कर सकती थी ?

आक्रमण और सुरक्षा की स्थिति को देखकर महाराणा ने हल्दीघाटी में युद्ध करने का निश्चय किया। हल्दीघाटी, जो उदयपुर और नाथद्वारा के बीच में पड़ती है। भयंकर लड़ाई हुई। इस लड़ाई में हल्दीघाटी ने बहुत ही ख्याति प्राप्त की। आज वह राष्ट्रीय स्मारक बन गयी है। इस लड़ाई में प्रताप की छोटी-सी सेना ने जो वीरता दिखायी वह आज भी इतिहास में अमर है। इस लड़ाई में महाराणा को बहुत क्षति उठानी पड़ी । सरदारों ने महाराणा को सलाह दी कि वे मोर्चे से हट जायें और फिर लड़ने के लिए साधन और सामग्री संग्रहित करें।

अकबर का मेवाड़ पर अधिकार

महाराणा मोर्चे से हट गए। अकबर की सेना ने मेवाड़ पर अधिकार कर लिया। इससे मेवाड़ियों की स्थिति बहुत ही खराब हो गयी। यहां तक कि महाराणा को पेट-भर भोजन मिलना भी कठिन हो गया। महाराणा पहाड़ों और जंगलों में सुरक्षित स्थान ढूंढकर वहां रहने लगे। इधर अकबर की ओर से बार-बार सन्देश मिलते रहे कि महाराणा नाममात्र की अधीनता स्वीकार कर लें तो सारा राज्य लौटा दिया जाएगा। लेकिन महाराणा अपनी आन पर अड़े रहे । उन्हें लड़ते-लड़ते वीरगति पाना मंजूर था, पर गुलामी कतई नहीं।

मेवाड़ त्यागने का निश्चय

एक दिन की बात है, महारानी ने अपने भूखे बच्चों को खाने के लिए रोटी दी, लेकिन अचानक उनके हाथ से एक जंगली बिलाव रोटी छीनकर भाग गया। बच्चे रोने लगे। महाराणा से वह स्थिति देखी नहीं गयी। जंगलों में छिपकर रहना, न कहीं रहने के लिए मकान, न खाने के लिए रोटी की व्यवस्था। राणा इस स्थिति से ऊब गए। उन्होंने मेवाड़ की सीमा त्यागने का निश्चय कर लिया।

भामाशाह का आगमन

महाराणा के मेवाड़ त्यागने की बात चारों ओर फैल गयी। महाराणा

उस समय उदयपुर की उस पहाड़ी पर थे जो आज उदय-सागर बांध के सामने है और जहां महाराणा का राष्ट्रीय स्मारक बना हुआ है। मेवाड़ त्यागने का निश्चय कर वे आगे बढ़ने वाले ही थे कि एक भील दौड़ता हुआ आया और भामाशाह के आने की खबर दी। भामाशाह ने उपस्थित होकर कहा -'अन्नदाता, आप यह क्या कर रहे हैं ? आपके चले जाने पर मेवाड़ अनाथ हो जाएगा।'

महाराणा बड़े वीर और सहनशील थे, परन्तु उनकी विवशता थी। महाराणा ने कहा -'मैं क्या करूं ? जब राजा के पास राज्य की रक्षा करने के लिए सेना न हो, सेना को खिलाने के लिए अन्न न हो, वेतन चुकाने के लिए धन न हो, तब क्या किया जाए ?

भामाशाह -'बड़ो हुकम, आप फरमाते हैं यह बात ठीक है, परन्तु धन की कमी के लिए मेवाड़ छोड़ना पड़े यह मैं सहन नहीं कर सकता। महाराज! ऊंट आ रहे हैं जिन पर इतनी सम्पत्ति है कि आप २० हजार सैनिकों से १२ वर्ष तक निरन्तर युद्ध कर सकेंगे ।'

महाराणा -'यह सम्पत्ति राज्य की नहीं है। उसे मैं कैसे ले सकता हूं ?

भामाशाह -'आप यह क्या फरमा रहे हैं, मेवाड़ के आप **धणी** हैं, मेरे भी मालिक हैं। इस सम्पत्ति के आप ही मालिक हैं। फिर यह सम्पत्ति मेवाड़ के काम आए, इससे बढ़कर उसका क्या अच्छा उपयोग हो सकता है ?' भामाशाह की देश-भक्ति के इन उद्गारों से महाराणा गद्गद् हो गए। भामाशाह को गले लगाते हुए बोले -'धन्य है मेवाड़ भूमि और उसके तुम जैसे सपूत जो उसके लिए समर्पण करना जानते हो ।'

मेवाड़ पर पुनः महाराणा का अधिकार

फिर क्या था, महाराणा का मेवाड़ त्यागने का निश्चय बदल गया। उन्होंने बड़े उत्साह से सेना-भर्ती का काम शुरू कर दिया।

मेवाड़ के वीर राजपूत ही नहीं वहां के आदिवासी भील भी महाराणा की सेना में भर्ती होने लगे। मुगल सेना बेसुध पड़ी थी, वह यह सोच ही न सकी कि पुनः युद्ध होगा। महाराणा ने युद्ध का बिगुल बजा दिया और मुगल सेना पर टूट पड़े। एक के बाद एक किला महाराणा मुगलों से छीनने लगे। भामाशाह इस युद्ध में महाराणा के साथ थे। मेवाड़ पुनः स्वतंत्र हो गया। इतिहासकार इसका श्रेय भामाशाह को ही देते हैं।

यह घटना वहां घटी जहां आज भी महाराणा प्रताप स्मारक के सामने वह खंडहर जैनों की देशभक्ति की गाथा सुना रहा है। भामाशाह ने ओसवाल जाति व जैन धर्मियों का मस्तक ऊंचा उठाया, जिसके नाम पर आज भी जैनों को गौरव है।

प्रश्न :

१. भामाशाह के पिता का क्या नाम था ?

२. भामाशाह ने महाराणा को कितना धन दिया था ?

३. महाराणा ने मेवाड़ त्यागने का निश्चय क्यों किया था ?

४. भामाशाह के जीवन से तुम्हें क्या प्रेरणा मिलती है ?

११
प्रेरक प्रसंग

१. जगडुशाह का अनोखा दान

शताब्दियां बीत गयीं, किन्तु जगडुशाह का दान आज भी अपनी असामान्य विशेषताओं के कारण इतिहास का प्रेरक सत्य बना हुआ है। वि. सं. १३१३ में सौराष्ट्र में पांच वर्ष का भयंकर दुष्काल पड़ा। लाखों पशु भूख से मर गए। हजारों मनुष्यों ने अन्न के दाने-दाने के लिए तरसते हुए प्राण छोड़ दिए। मानव करुणा से प्रेरित होकर जगडुशाह नाम के एक जैन श्रावक ने अपने कर्तव्य बोध से गांव-गांव में एक सौ बारह दानशालाएं खोल दीं। बिना किसी भेदभाव के मनुष्यों को अन्न तथा पशुओं को चारा दिया जाने लगा। जगडुशाह स्वयं दानशाला में बैठकर अपने हाथों से दान दिया करते थे।

जगडुशाह ने देखा कि कुछ उच्च घरानों के कुलीन व श्रेष्ठ व्यक्ति जिनको परिस्थितियों के बहाव ने दर-दर की ठोकरें खाने लायक बना दिया है, सामने आकर मांगने में शरमाते हैं, अतः जगडुशाह ने अपने दान-मंडप में एक पर्दा डलवा दिया।

पर्दे के भीतर जगडुशाह बैठते, दान लेने वाला आकर बाहर से भीतर की ओर हाथ फैला देता, जगडुशाह मांगने वाले के हाथ से उनकी स्थिति का अवलोकन कर पर्दे की खिड़की में से चुपचाप उसके हाथ में कुछ न कुछ रख देते। किसको दे रहा हूं ? कौन ले रहा है ? न कुछ देखना और न कुछ पूछना ।

तत्कालीन राजा बीसलदेव ने भी दुष्काल में अपनी प्रजा की सहायता के लिए कुछ क्षेत्र खोले थे। लेकिन अन्न के अभाव में वे शीघ्र ही बंद हो गए। उसने जगडुशाह के उदार व निस्पृह दान की बात सुनी

और साथ ही यह भी सुना कि बिना मुख देखे और हाल पूछे याचक को आवश्यकता के अनुसार दान मिल जाता है, तो परीक्षा के लिए बीसलदेव एक भिखारी का वेश बनाकर जगडुशाह की दानशाला में पहुंचे। पर्दे की खिड़की में से भीतर हाथ फैलाया। जगडुशाह ने उसके हाथ पर अपनी हीरे की अंगूठी निकालकर रख दी। बहुमूल्य हीरे की अंगूठी देखकर बीसलदेव आश्चर्य में डूब गए। उसने दूसरा हाथ फैलाया, जगडुशाह ने अपनी दूसरी अंगूठी उस पर रख दी।

बीसलदेव राजमहलों में आ गए। दूसरे दिन उसने जगडुशाह को बुलाया। जगडुशाह आए तो बीसलदेव ने पूछा - शाह ! सुना है, तुम दान देते समय किसी का चेहरा नहीं देखते और न किसी से कुछ पूछते हो ?

'हां महाराज ! इसके लिए चेहरा देखने और पूछने की क्या जरूरत है ? मैं सिर्फ याचक का हाथ देखकर ही दान देता हूं, उसकी अपनी आवश्यकता और स्थिति के अनुसार दे देता हूं।'

'क्या तुम सामुद्रिक रेखाएं जानते हो ?'

'महाराज ! हस्त रेखाएं पढ़ना ही सामुद्रिक नहीं, हाथ की बनावट, उसकी सुकुमारता आदि लक्षण अपने आप याचक का परिचय दे देते हैं और उसी के अनुसार रुपये वाले को रुपये और स्वर्ण मुद्रा वाले को स्वर्ण मुद्रा मिल जाती है।'

राजा ने दोनों अंगूठियां दिखाते हुए कहा -'तुमने क्या समझकर ये अंगुठियां मुझे दी ?'

जगडुशाह ने बड़ी संजीदगी से कहा -'महाराज ! यह हाथ देखा तो मैंने सोचा कि कोई उच्च खानदान का व्यक्ति है। संकट का मारा यहां मांगने आया है तो इतना दे दिया जाए कि दुबारा इसे न आना पड़े।'

राजा ने जगडुशाह के दान की उदारता और निस्पृहता देखी तो बहुत प्रसन्न हुए । उसने जगडुशाह का बड़ा सम्मान किया और हाथी के ओहदे पर बैठाकर ससम्मान घर भेजा ।

२. नगर सेठ खुशहालचन्द्र

एक बार निजामुलमुल्क के चाचा हामिदखां ने मराठों की सहायता से अहमदाबाद पर आक्रमण किया। सूबेदार इब्राहीम कुलीखां अहमदाबाद के शासक थे। लेकिन वह हामिदखां की विशाल सेना के आगे ठहर न सके और भागकर किले में जा छिपे। हामिदखां की सेना शहर में घुसकर लूटमार और हत्याएं करने लगी । यह देखकर अहमदाबाद के अग्रगण्य पुरुष इकट्ठे हुए और यह विचार करने लगे कि इस विनाश से नगर को कैसे बचाया जाए ? शत्रु का अत्याचार बढ़ रहा था और पीड़ित जनता हाहाकार कर रही थी। उस समय एक जैन वणिक नगर सेठ खुशहालचन्द्र आगे आये।

अपने पीढ़ियों से खुशहालचन्द्र के कुल वाले नगर सेठ होते आए थे। औरंगजेब के समय में इन्हें सिक्के चलाने का अधिकार भी था। इसी कारण जब-जब शहर पर विपत्ति आती थी, तो यह नगर सेठ उससे जन-जीवन को बचाने का प्रयत्न करते थे। खुशहालचंद्र ने भी ऐसा ही किया। उस सामूहिक हत्याकांड के समय वे अपने प्राणों की चिंता न करके सेनापति हामिदखां के पास पहुंचे और विनम्र शब्दों में बोले - 'मेहरबानी कर यह अराजकता रोकिए और नगर में व्यवस्था स्थापित कीजिए।'

हामिदखां ने रक्तिम नेत्रों से नगर सेठ की ओर दृष्टिपात किया। सिर पर अहमदाबादी जरी की पगड़ी, कानों में स्वर्णकुण्डल और मुख पर सौम्यता का लहराता समुद्र । वह रक्तपिपासु खूंखार भेड़िया कई क्षण तक आग्नेय नेत्रों से उन्हें घूरता रहा और फिर बोला -'मैं धन चाहता हूं। भरपूर धन प्राप्त किए बिना यह नरसंहार बन्द नहीं होगा।'

नगर सेठ का करुणामय हृदय द्रवित हो उठा था। करुण स्वर में उन्होंने कहा -'जितना धन चाहते हो मैं दूंगा, सेना को लौट जाने का आदेश दो। व्यर्थ ही निर्दोष नागरिकों की हत्या और सम्पत्ति का यह

महानाश मैं नहीं देख सकता।'

हामिदखां बोला -'जितना मागूंगा, उतना दोगे ?'

नगर सेठ ने उत्तर दिया -'दूंगा, अवश्य दूंगा, आप सेना को लूटमार से रोकिए ।'

हामिदखां ने एक बार फिर कुटिल नेत्रों से नगर सेठ को देखा। नगर सेठ जानते थे कि यह सारा धन मुझे ही देना होगा। लेकिन इस समय अपनी सम्पत्ति बचाने का तुच्छ विचार उन्हें छू तक नहीं गया था। इसलिए उनके मुखमण्डल पर अपूर्व आभा थी और इसी आभा ने अत्याचारी को छुआ। उसने तुरन्त रणभेदी बजाने की आज्ञा दी। लूटमार करने वाली सेना अपने शिविरों की ओर लौट पड़ी। जनता ने राहत की सांस ली। थोड़ी देर उपरांत सेनापति क्या देखता है कि चार बैलों के सुन्दर रथ पर रुपयों से भरी हजारों थैलियां लिए नगर सेठ उसकी ओर बढ़ रहे हैं। दूसरे ही क्षण सेनापति के सामने रुपयों का ढेर लग गया। सेनापति की आंखे चमक उठी। मुक्त कंठ से उसने कहा - 'नगर सेठ, तुम्हारा नगर अब पूर्णतः सुरक्षित है।'

नगर सेठ अब सब कुछ गंवा बैठे थे। पीढ़ियों से उनके पूर्वजों ने जो सम्पदा एकत्र की थी, वह अब विदेशियों के हाथों में पहुंच गयी थी। नगर सेठ के सामने प्रश्न था - अब व्यापार कैसे चलेगा ? कल बाजार में हुण्डियां कैसे सिकरेगी ? लेकिन यह होते हुए भी उनके मुख पर मलिनता या चिन्ता की एक शिकन भी दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। वे एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव कर रहे थे। धन गया तो क्या हुआ, शहर तो बच गया, जनता की रक्षा तो हो गयी।

एक ही क्षण में चारों ओर यह खबर फैल गयी कि अपना सर्वस्व लुटाकर नगर सेठ खुशहालचन्द्र ने हमें और हमारे शहर को तबाही से बचाया है। जो काम सेना नहीं कर सकी, वही काम अकेले नगर सेठ ने किया है। बस, नगर के सभी प्रमुख व्यापारी इकट्ठे हुए और उन्होंने

सर्व-सम्मति से यह निर्णय किया कि अहमदाबाद के बाजार में जितना माल कांटे पर तोला जाए, उसका चार आना प्रति सैकड़ा सेठ को मिला करे। प्रतिज्ञा-पत्र लिखा गया और उस प्रतिज्ञा-पत्र पर तारीख पड़ी है हिजरी सन् ११३७ तारीख १०, माह शबान। इसके अनुसार नगर सेठ को बराबर पैसा मिलता रहा। अहमदाबाद पर शासन करने वाली गायकवाड़ और पेशवा सरकार ने इस प्रतिज्ञा-पत्र का सम्मान किया। यही नहीं, उन्हें छत्र और आसन भी प्रदान किया। कम्पनी सरकार ने भी इस अधिकार को स्वीकार किया था, लेकिन उसने एक राशि नियत कर दी। यह राशि थी २१३३ रुपया वार्षिक । कुछ समय बाद एक कलेक्टर ने यह राशि देना बंद कर दिया। पैसे की दृष्टि से यह रकम बड़ी नहीं थी, किन्तु मान की दृष्टि से उनका मूल्यांकन नहीं हो सकता था और इसलिए नगर सेठ के वंशज सेठ प्रेमभाई ब्रिटेन तक जाकर लड़े और अधिकार को पुनः प्राप्त किया।

आज भी नगर सेठ खुशहालचन्द्र की स्मृति में यह रकम भारत सरकार की ओर से प्रतिवर्ष उनके वंशजों को दी जाती है। इसके साथ नगर सेठ खुशहालचन्द्र की जनकल्याण की वृत्ति और सर्वस्व न्यौछावर करने के साहस की जो कहानी जुड़ी हुई है, उसका मूल्य असीम है।

प्रश्न :

१. जगडुशाह ने दुष्काल में कितनी दानशालाएं खोली थी ?

२. राजा बीसलदेव को जगडुशाह ने क्या दान दिया था ?

३. सेठ खुशहालचंद्र ने हामिदखां को अपना सर्वस्व क्यों अर्पण किया था?

४. इस प्रेरक प्रसंगों से तुम्हें क्या प्रेरणा मिलती है ?

१२

आदर्श श्रावक रूपचंदजी सेठिया

आदर्श जीवन

श्रावक रूपचन्दजी का जन्म विक्रम संवत् १९२३, ज्येष्ठ शुक्ला १० वीं के दिन सुजानगढ़ (राजस्थान) के प्रसिद्ध सेठिया परिवार में हुआ था। उस समय की परम्परा के अनुसार रूपचन्दजी का विवाह १० वर्ष की अवस्था में ही कर दिया गया था। मृत्यु के समय उनकी अवस्था ६० वर्ष की थी।

श्रावक रूपचंदजी का व्यक्तित्व ऐसा था कि जो कोई उनके संपर्क में आता वह उनसे आकर्षित हुए बिना नहीं रहता। उनका जीवन शुद्ध आचार व विचार का संगम था। तेरापंथ के श्रावकों में उनका जीवन विशिष्ट स्थान रखता है।

आचार्यों के प्रति असीम श्रद्धा, धर्म के प्रति असीम अनुराग, कर्त्तव्यों के प्रति असीम जागरूकता, जीवन के प्रत्येक कार्य में अहिंसा का उपयोग, ये थे श्रावक रूपचंदजी के गुण, जो विरले ही श्रावकों में देखने को मिलते हैं। ये सप्तम आचार्य डालगणी के परम विश्वास पात्र श्रावक थे।

दिनचर्या

सूर्योदय से दो घंटा पूर्व उठकर दो सामायिक करना उनका नित्य का नियम था। सामायिक में नित्य स्मरण, भजन, माला व प्रतिक्रमण करना उनकी प्रतिदिन की क्रिया थी। उसके बाद गांव में साधु-साध्वियां होने पर उनके दर्शनार्थ जाना, दर्शन किये बिना मुंह में अन्न-जल न लेने का उनका नियम था। किसी भी साधु-साध्वी के अस्वस्थ होने पर

उसकी परिचर्या की कल्पनीय व्यवस्था का ध्यान रखते थे। उनकी इस परम्परा का निर्वाह उनके पुत्र छगनमलजी सेठिया तक चलता रहा। साधु-साध्वियों का उन पर अधिक विश्वास था।

गांव में साधुओं का व्याख्यान होता हो, तो घर पर बैठकर गप्पे मारना व ताश खेलना जानते ही नहीं थे। व्याख्यान में आकर सामायिक करते। पीछे आकर आगे बैठने का ध्यान नहीं रखते थे। वे व्याख्यान बड़े ध्यानपूर्वक सुनते थे। व्याख्यान के बाद घर आने पर गोचरी की भावना भाते थे। गोचरी होने के बाद ही भोजन करने बैठते थे। भोजन के पूर्व नमस्कार मंत्र का स्मरण अवश्य करते थे।

आचार्यश्री गांव में हो तो दुपहरी में भी साधुओं के स्थान पर सामायिक करते थे। प्रतिलेखन का समय आने पर साधुओं के स्थान पर नहीं रहने का उपयोग रखते थे।

रात्रि में चौविहार था, इसलिए काफी दिन रहते ही भोजन कर लेते थे। रात्रि में फिर साधुओं के स्थान पर आकर सामायिक करते थे। यह थी उनकी सामान्य दिनचर्या।

अहिंसा का सूक्ष्म विवेक

वे गरम जल से स्नान करते थे। जल को गरम करने से अप्काय जीवों का विनाश होता है, इस बात पर उनकी दृष्टि गई तो स्नान करने से जल का संकोच करते-करते मात्र ४५ तोला जल से अधिक जल स्नान के काम में नहीं लेते थे। अहिंसा की साधना के लिए गृहस्थ का इतना त्याग विरले ही व्यक्तियों में होता है।

स्नान के लिए जीव-जन्तु रहित स्थान का चुनाव करना, स्नान के चिकने जल पर चींटियां इकट्ठी न हों इसलिए उसे धूप में डलवाना आदि सारी विधि अहिंसा की उत्कृष्ट आराधना की भावना से अनुप्राणित थी। पानी को छाने बिना काम में नहीं लेना, घर का धोवन-जूठन गाय-भैंस आदि को खिला देना, साफ किए बरतनों की बालू (रेती)

को धूप में डलवाना, उसे एक जगह इकट्ठा न होने देना, फलों के छिलके धूप में कांटों की बाड़ पर डलवाना आदि छोटी-छोटी बातों का वे बड़ा ध्यान रखते थे। उसमें भी उनका अहिंसा-विवेक ही काम करता था कि कहीं जीवों की उत्पत्ति न हों, चींटी आदि छोटे जीव इकट्ठे न हों तथा किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो आदि।

वे हर जगह थूकते नहीं थे। यत्र-तत्र नाक साफ नहीं करते थे। थूक, खंखार नाक के मल को रेत से ढक देते थे। उनमें इस प्रकार की नागरिकता का जो भाव था, वह उनकी उच्च कोटि की अहिंसा वृत्ति का परिणाम था।

अपने अधीन गाय-भैंस आदि पशुओं को वे भूखा-प्यासा नहीं रखते थे। नौकरों से पूरी पूछताछ रखते। पशुओं को पीटने नहीं देते। सवारी करने पर ऊंट आदि को ठोकर नहीं लगाते तथा गाड़ी के बैलों को जोर से हांकने नहीं देते थे।

अहिंसा का कार्य कितना कठिन है और उस पर चलने वालों को कितना सावधान रहना पड़ता है उसका सम्यग् बोध श्रावक रूपचन्दजी के इन संस्मरणों से मिलता है। गृहस्थ होते हुए भी अहिंसा की ऐसी उपासना, प्राणियों के प्रति उत्कट आत्मौपम्य की भावना के बिना असंभव है।

व्यवहार में ईमानदारी

उनके जीवन का सूत्र था - 'ठगायो बाजे ते हरजो नहीं, ठग नहीं बाजणो' वे बे-हक की वस्तु को स्वीकार करना बहुत बुरा मानते थे। एक बार उनका मुनीम बिना टैक्स दिये कोई वस्तु उनके घर ले आया। जब उन्हें मालूम हुआ तो तत्काल अपने आदमी को सब बातें कहलवाकर टैक्स के रुपये भिजवा दिए।

एक बार कुचाघाट से एक किसान वस्त्र लेने के लिए उनकी दुकान पर आया। उसने कहा -'१२ हाथ वस्त्र खरीदना है।' मुनीम ने

उसको १२ हाथ कपड़ा फाड़कर दे दिया और पैसे ले लिए। रूपचन्दजी ने मुनीम से पूछा - 'अपने घर में ऊंचे भाव में आया है तो उसे इतने पैसे में १२ हाथ कैसे दे दिया ?'

मुनीम ने कहा -'सेठजी, अधिक नहीं दिया। हाथ-डेढ़ हाथ कम ही दिया है। आपको संदेह हो तो जांच कर लें ।' रूपचन्दजी ने तत्काल उस किसान को बुलाया और कपड़ा नापकर जितना हाथ कहा था, उतना दिला दिया। उसके बाद मुनीम का हिसाब-किताब कर उसे दुकान से विदा कर दिया। व्यापार में कम तौल-माप उनको बिल्कुल भी पसंद नहीं था।

आदमी की जबान होती है

एक बार एक व्यापारी से १००० रुपये की हुण्डी लेने की बात कर ली। उस दिन हुण्डी लेने के बाद तार आया कि उस व्यापारी का दिवाला निकल गया है। तार को पढ़कर गद्दी के नीचे रख दिया। मन में निश्चय किया कि हुण्डी मिलने पर मुनीम द्वारा भुगतान करवा देना है। हुण्डी रख ली गई। बाद में ही हुण्डी लेने वाले व्यक्ति के पास दिवाला निकलने का तार आया। तब वह आदमी रूपचन्दजी के पास आया और बोला -'सेठजी ! हमारे काम बन्द होने का समाचार आया है। मैं जान-बूझकर आपके रुपये नहीं दबाना चाहता, आप रुपये वापस ले लीजिए ।'

रूपचन्दजी ने कहा -'तार तो तुम्हारे से पहले मेरे पास आ गया था, परन्तु आदमी की जबान होती है।' रूपचन्दजी के इस व्यवहार से वह गद्गद् हो गया।

निर्भीकता

एक बार सुजानगढ़ में एक नए नाजिम आए। वे जिस मकान में रहते थे, वह गंदा था। उसको लिपवाने के लिए काठ की कड़ियों की आवश्यकता थी। नाजिम का एक आदमी रूपचन्दजी के पास आया

और उनसे काठ की कड़ियां मांगी। रूपचन्दजी ने कहा -'मेरे पास कड़ियां तो है, परन्तु देने की इच्छा नहीं है।' आदमी लौटकर रूपचन्दजी का प्रत्युत्तर नाजिम को कह दिया।

नाजिम ने कहा -'ऐसा कौन आदमी है जो होने पर भी नहीं देता ? नहीं देनी होती तो आदमी कुछ बहाना कर देता है परन्तु कैसे कहा कि मेरे पास है, परन्तु देना नहीं चाहता ? तब पास बैठे हुए एक व्यक्ति ने कहा -'वे झूठ नहीं बोलते । उनको जो वस्तु नहीं देनी होती है उसके लिए वे मना कर देते हैं।'

क्षमाशीलता

एक बार व्याख्यान के बाद वे घर जा रहे थे। उस समय किसी ने बिना देखे ऊपर से राख डाल दी। राख उनके सिर पर पड़ी। उनके साथ ठाकुर था। वह क्रोधित होकर बोला -'ख्याल नहीं रखते ? रूपचन्दजी ने कहा -'कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसने जानकर राख थोड़े ही गिरायी है? इस प्रकार उनके प्रत्येक जीवन-व्यवहार में अहिंसा व क्षमाशीलता का दर्शन होता है। धर्म भी जब दीप्तिमान होता है तब जीवन व्यवहार में साकार हो उठता है। रूपचन्दजी ऐसे श्रावक थे जिनके प्रत्येक जीवन-व्यवहार में धर्म साकार होकर बोलता था।

निर्मोही

एक बार उनके पुत्र माणकचन्दजी इलाज के लिए जोधपुर गए थे। दूसरे दिन उनके देहान्त का तार आया। उस समय वे सामायिक में बैठे थे। हुकमचन्दजी बैद उनके पास बैठे थे जो उनको तार बताने आए थे। उनका चेहरा देख वे जान गए थे कि समाचार कुछ अच्छा नहीं आया है। थोड़ी देर बाद रोने का शब्द सुनायी दिया। सामायिक आ जाने पर हुकमचंदजी ने माणकचंदजी की हवेली में जाने के लिए कहा । माणकचन्दजी अलग हवेली में रहते थे। उनके घुटनों में दर्द रहता था, हाथ में छड़ी लेकर माणकचंदजी के मकान पर आ गये। तार का

समाचार सुनकर उन्होंने कहा -'और तो सब कर्मानुसार होता है, परन्तु मैंने उसे रूग्णावस्था में बाहर भेजा, इसका मुझे दुख है। माणकचन्द जैसे बालक कम होंगे।' उनकी आंखों में आंसू तक नहीं आये, प्रत्युत घर में जाकर सबको न रोने का उपदेश दिया।

उनकी कुछ हित शिक्षाएं

१. खुशामद करके किसी से रुपया उधार नहीं लेना चाहिए ।
२. किसी का उधार लिया हुआ रुपया अधिक नहीं रखना चाहिए।
३. अपने सामर्थ्य से बाहर व्यापार नहीं करना चाहिए।
४. किसी को ठगने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।
५. इज्जत बनाते बहुत दिन लगते हैं, जाने में देर नहीं लगती। इसलिए इज्जत का प्रतिपल ख्याल रखना चाहिए।
६. पापों का सेवन करने से पैसा पैदा होता है, इसलिए पैसे को फिजूल खर्च नहीं करना चाहिए।

प्रश्न :

१. श्रावक रूपचन्दजी की क्षमाशीलता का उदाहरण दीजिये।
२. उनके जीवन से तुम्हें क्या शिक्षा मिलती है ?
३. उनके जीवन-व्यवहार में धर्म साकार होकर बोलता था - इसे उनके जीवन के दो संस्मरण देते हुए सिद्ध कीजिये ।
४. वे कौन से आचार्य के विश्वासपात्र थे।

१३
इतिहास के पृष्ठ

१. बन्धन टूटे

श्रद्धा में बल होता है । दुस्सम्भव और असम्भव की परिभाषाएं श्रद्धा के शब्दकोश में नहीं होती। दृढ़ श्रद्धा स्वयं एक चमत्कार है और अनेक चमत्कारों की जननी भी ।

स्वामीजी के श्रावक-परिवार में केलवा के शोभजी श्रावक का नाम आज भी बड़े गौरव के साथ लिया जाता है, उनमें ज्ञान और श्रद्धा का विचित्र समन्वय था। स्वामीजी के प्रत्येक दश पद्यों के पीछे एक पद्य बनाने की प्रतिज्ञा लेकर उन्होंने लगभग ३८०० पद्य बनाए, जिसमें बहुत से आज भी अपनी सरसता के कारण सैकड़ों कंठों पर नाच रहे हैं।

शोभजी श्रावक नाथद्वारा में सरकारी नौकरी में थे। एक बार किसी कारणवश उन्हें जेल की कड़ी सजा भुगतनी पड़ी । स्वामीजी ने जब यह अप्रिय घटना सुनी तो शीघ्र ही नाथद्वारा पहुंचे और कारागृह में उन्हें दर्शन देने के लिए पधारे। कुछ व्यक्तियों को यह कहते सुना -'धर्मवीर भक्त को दर्शन देने आ रहे हैं, देखें अब कैसे छुड़ाकर ले जाते हैं ?'

उनकी जेल की कोठरी में जाकर जब स्वामीजी ने देखा तो वे आंखें मूंदे मस्त हुए गा रहे थे - **'स्वामीजी रा दर्शन किण विध होय, पूज्यजी रा दर्शन किण विध होय ।'**

स्वामीजी कुछ क्षण रुके, आखिर उनकी भावभरी मस्ती तोड़ते हुए बोले- 'शोभजी ! तुम्हें दर्शन देने के लिए हम आ गए हैं ?'

स्वामीजी के शब्द सुनकर उन्होंने ज्योंही सहसा दर्शन करने के लिए उठकर आगे बढ़ने की चेष्टा की तो हथकड़ियां व बेड़ियां अपने आप टूटकर गिर पड़ी ।

जेल के संरक्षकगण इस दैवी घटना से स्तम्भित रह गए, उनके ज्ञानतन्तु स्पन्दित हो उठे - क्या सच ही विश्वास और श्रद्धा-बल के समक्ष लोह-श्रृंखलाएं भी तुच्छ हैं।

२. भय बिनु होय न प्रीति

मनुष्य गलती करते समय गलती को पहचानता भी नहीं है, किन्तु जब उसका भयंकर परिणाम सामने आता है, तभी वह स्वयं उस पर पछताकर उसे सुधारने की चेष्टा करता है। ठोकर खाकर सम्हलता है। इसीलिए कहा जाता है - **"भय बिनु होय न प्रीति।"**

आचार्यश्री भारमलजी वि. सं. १८७५ के ज्येष्ठ महीने में उदयपुर पधारे। वहां उनकी बढ़ती हुई धर्म-प्रभावना को देखकर सहृदय व्यक्ति जहां प्रसन्न हो रहे थे, वहां कुछ ईर्ष्यालु अन्दर ही अन्दर जलकर षड्यंत्र रचने में सक्रिय थे। कुछ व्यक्तियों ने महाराणा भीमसिंहजी के पास जाकर उन्हें बरगलाया -'नगर में कुछ ऐसे साधु आए हुए हैं,जिन्होंने वर्षा को रोक रखा है। अत्यधिक गर्मी पड़ने से समस्त शहर में हैजे की सम्भावना हो रही है।' राणाजी ने सहसा आदेश दे दिया - 'ऐसे साधु-संन्यासियों को शहर से बाहर निकाल दो।' विरोधियों की तो बन आयी। आदेश प्राप्त होते ही आचार्य भारमलजी ने वहां से राजनगर की ओर विहार कर दिया।

पीछे नगर में हैजे का प्रकोप बढ़ा। महाराज के दामाद तो इसके शिकार हो गये और राजकुमार बीमार। आचार्यवर को नगर से निकालने पर यूं ही जनता क्षुब्ध थी, फिर इन घटनाओं से उनके क्षोभ में और भी तीव्रता के साथ उभार आया। केशरजी भण्डारी ने जो कि राणाजी के कामदार थे, और आचार्यवर के प्रति अनन्य श्रद्धाशील भी, राणाजी से कहा -'आपको यह क्या सुझी ? ऐसे त्यागी साधुओं को निरर्थक इतना कष्ट और अपमान ! समूचे शहर में विक्षोभ की लहर उछल रही है,

जंवाई चल बसे हैं, राजकुमार किनारे लग रहे हैं, और फिर भी मैंने जहां तक सुना है—उन साधुओं को देश से निकालने की हरकतें चल रही हैं।'

राणाजी ने विरोधियों द्वारा फैलाये गये विषैले भ्रम के विषय में कहा तो भण्डारीजी ने सभी परिस्थितियों का स्पष्टीकरण किया।

राणाजी -'केसरा ! अब क्या हो सकता है ? मैं तो धोखा खा गया, उन्हें बुलाओ ।'

भण्डारीजी - 'वे कोई नौकर थोड़े ही हैं जो मेरे बुलाने पर आ ही जाएं? आप ही अपने प्रतिनिधि को भेजकर उन्हें नगर में पुनः पधारने का विनम्र निवेदन करावें।

भंडारीजी का सुपरामर्श सुनकर राणाजी ने तत्काल अपने हाथ से एक रुक्का लिखकर हलकारे के साथ राजनगर भेजा।

इधर मेवाड़ के तेरापंथी श्रावक राजनगर में एकत्रित हो गए। सभी ने यह निश्चय कर लिया कि आचार्यवर के साथ हमें भी देश त्याग करना है। सिर्फ महाराणा के आदेश की प्रतीक्षा थी। जब हलकारा पत्र लेकर राजनगर पहुंचा तो जोशीले शब्दों में कहा -'पत्र फाड़कर राजसमन्द में फेंक दो और चल पड़ो आचार्यश्री के पीछे ।' किन्तु अनुभवी विचारकों के आग्रह पर पत्र खोलकर पढ़ा तो यह निकला :

श्री एकलिंगजी, श्री बाणनाथजी, श्रीनाथजी ।

स्वस्ति श्री साध भारमलजी तेरापंथी साध थी राणा भीमसिंह री विनती मालूम हुवै। कृपा कर अठ पधारोगा जी। दुष्ट दुष्टाणों कीदो जी सामु नहीं देखोगा । म्हा सामु वा नगर में प्रजा है ज्यांरी दया कर जेज नहीं करोगा बती कांई लिखूं। ओर समाचार साह सुवावाल का लख्या जाणोगा। वि. सं. १८७५ आषाढ़ विद ३ शुक्रे।

अर्थात् श्री एकलिंगजी, श्री बाणनाथजी, श्रीनाथजी ।

स्वस्ति श्री साधु भारमलजी तेरापंथी साधु से राणा भीमसिंह की

विनती मालूम हो कृपा करके आप यहां पधारें। किन्हीं दुष्टों ने जो दुष्टता की उसकी तरफ न देखें। मेरी तथा नगर की प्रजा की तरफ देखकर दया करें और विलम्ब न करें, अधिक क्या लिखूं। अन्य समाचार शाह सुवालाल के द्वारा लिखे पत्र से जानें। वि. सं. १८७५, आषाढ़ कृष्णा ३ शुक्रवार ।

लोगों का जोश नवीन उल्लास में बदल गया। प्रयाण समारोह अब धर्म-परिषद् बन गयी। जनता ने एक स्वर से निवेदन किया -'अब आपको कृपा करके उदयपुर पधारना चाहिए।'

आचार्यवर ने धीर, गम्भीर किन्तु निःस्पृह स्वर में कहा -'कौन अब बार-बार पहाड़ों, पत्थरों से पैर घिसता फिरे। (कुण भाटा घूंदतो फिरै) मेरे क्या राणाजी से लेना देना है ? यों कहकर नहीं पधारे और वहां से विहार कर आपने वह चातुर्मास पुर में किया ।

३. श्रीमज्जयाचार्य पर वारण्ट

जयाचार्य ने चूरू में जयपुर के 'मुनिपत' नामक एक बालक को दीक्षित किया। तेरापंथ की दीक्षा-प्रणाली के अनुसार अभिभावकों की अनुमति से ही किसी को दीक्षा प्रदान की जाती है। बालक के पिता का देहान्त बहुत पहले हो चुका था, अतः उसकी माता की अनुमति से उसको दीक्षित किया गया।

कुछ विरोधी लोगों ने बालक के अन्य रिश्तेदारों को उकसाया - 'देखो ! जीतमलजी महाराज (जयाचार्य) ने तुम लोगों से बिना पूछे ही बालक को दीक्षा दे दी। तुम्हें इसकी राजदरबार में अपील करनी चाहिए।' जयाचार्य चुरू से लाडनूं पधार गये। उस समय लाडनूं जोधपुर रियासत में था, अतः विरोधियों के बहकावे में आकर उसके रिश्तेदारों ने जोधपुर दरबार के समक्ष अपील की।

महाराज तख्तसिंहजी उस समय जोधपुर के राजा थे। उन्होंने विरोधियों की बातों पर सहसा विश्वास करके जयाचार्य के लिए वारण्ट

जारी कर दिया। वारण्ट लेकर दो हलकारे जोधपुर से लाडनूं के लिए रवाना हुए। विद्युत-गति से बात लाडनूं पहुंची। सारे समाज में एक प्रकार की हलचल-सी मच गयी। लोगों का खून उबलने लगा। जयाचार्य का प्रवास उस समय दूलीचन्दजी दूगड़ के मकान में था। दूलीचन्दजी लाडनूं के एक प्रभावशाली, भक्तिवान और दबंग श्रावक थे। जोधपुर नरेश द्वारा जयाचार्य के लिए वारण्ट की बात सुनकर वे आवेश में आ गए। उन्होंने कहा -'किसकी मजाल है जो हमारे बैठे हमारे गुरु के प्रति कोई कार्यवाही कर सके ? जब तक मेरे शरीर में खून की एक बूंद भी शेष है तब तक कोई भी जयाचार्य के हाथ नहीं लगा सकता।' वे स्वयं मकान के मुख्य दरवाजे पर बैठ गए तथा मोहिल जाति के लगभग दो सौ व्यक्तियों को भी वहां लाकर बिठा दिया और कहा -'कोई भी बिना इजाजत अन्दर नहीं आने पाए।'

उधर जोधपुर में बादरमलजी भंडारी जोधपुर-नरेश के हजूरी दफ्तर में प्रमुख (निजी सचिव) थे। वे धर्म-संघ के वफादार श्रावक थे। जब उन्हें पता चला कि जोधपुर-नरेश द्वारा जयाचार्य पर वारंट जारी किया गया है तो तत्काल महलों में महाराजा तख्तसिंहजी से मिलने के लिए गए। रात्रि का समय था। महल के दरवाजे पर खड़े संतरी (किंचुकी) से उन्होंने कहा -'जाओ, दरबार से निवेदन करो कि बादरमल आपसे मिलने आया है।'

किंचुकी अन्दर जाकर महाराज से निवेदन किया। महाराज उस समय सोने की तैयारी में थे। उन्होंने किंचुकी से कहा -'बादरमल से कह दो कि सुबह मिल लेना।'

किंचुकी ने वापस आकर बादरमलजी को महाराज का उत्तर सुनाया। बादरमलजी ने कहा -'जाकर दरबार से अर्ज कर दो कि मिलना हो तो अभी मिल लें, सुबह तो बादरमल की लाश मिल सकती है, उसके प्राण नहीं मिलेंगे।'

जब महाराज को किंचुकी द्वारा बादरमलजी की भावना मालूम हुई तब उन्होंने उनको महल में बुला लिया । महल में आते ही महाराज ने उनसे पूछा- 'क्यों बादर, आज रात्रि में कैसे आना हुआ ?

बादरमलजी बोले -'आपने आज कैसा आदेश प्रदान किया है ?

महाराज ने पूछा -'कौन-सा आदेश ?'

बादरमलजी ने कहा -'वही जो आपने जीतमलजी महाराज को गिरफ्तार करने का दिया है ।'

महाराज ने कहा -'बादरमल ! वे तो ऐसे ही हैं। उन्होंने एक बालक को उनके घर वालों की अनुमति के बिना ही दीक्षा दे दी।'

बादरमलजी ने निवेदन किया -'नहीं !ऐसा कभी नहीं हो सकता। आपने वस्तुस्थिति की पूरी जांच नहीं की है। वे मेरे गुरु हैं। ऐसा काम कभी कर नहीं सकते ।'

महाराज ने कहा -'वे तुम्हारे गुरु हैं ? मुझे तो मालूम ही नहीं था । मुझे तो कुछ लोगों ने कहा था और मैंने उसी के आधार पर आदेश दे दिया। अब क्या करना चाहिए ?

बादरमलजी ने कहा -'करना क्या चाहिए ? आपको दूसरा आदेश देना होगा और पहले वाले को खारिज करना होगा ।'

महाराज बोले -'सुबह दूसरा आदेश लिख देंगे ।

बादरमलजी ने कहा -'सुबह नहीं, आपको अभी दूसरा आदेश लिखना होगा। सुबह होगी तब तक तो शायद पहले वाला आदेश लाडनूं पहुंच चुका होगा ।'

महाराज तख्तसिंह ने बादरमलजी के कहने पर तत्काल उसी समय दूसरा आदेश लिखते हुए पहले वाले आदेश को खारिज कर दिया। बादरमलजी के पुत्र किशनमलजी भंडारी उस आदेश को लेकर शीघ्र गति से लाडनूं के लिए रवाना हुए। पहले वाले संदेशवाहक रास्ते में कहीं रुक गये थे, अतः वे उनके पहले ही लाडनूं पहुंच गए।

लाडनूं में जब यह समाचार मिला कि बादरमलजी भंडारी ने अपनी बहादुरी से जयाचार्य के प्रति वारण्ट को खारिज करवा दिया तो लोग खुशी से झूम उठे। धर्म-संघ पर आये संकट के बादल बिखर गये, अतः राहत की सांस ली। पहले वाले संदेशवाहक जब लाडनूं पहुचे तो उन्हें दूसरा आदेश दिखलाकर वापस भेज दिया गया। इस कार्य में दूलीचन्दजी दूगड़ और बादरमलजी भण्डारी की भूमिका उल्लेखनीय रही। दोनों का नाम तेरापंथ के इतिहास में विशेष रूप से अंकित रहेगा।

प्रश्न :

१. 'शोभजी ! तुम्हें दर्शन देने के लिए हम आ गये हैं' - यह कथन किसका है- और किस अवसर का है - लिखें।

२. उदयपुर के महाराणा ने भारमलजी स्वामी को उदयपुर से निकल जाने का आदेश क्यों दिया ?

३. जयाचार्य के वारण्ट की बात सुनकर दूलीचंदजी दूगड़ ने क्या कहा ?

४. बादरमलजी भंडारी ने किंचुकी से क्या कहा ?

१४

मैं जैन क्यों हुआ

वह आनन्द जो अब मेरी आत्मा में समा रहा है अभूतपूर्व है। पश्चिम का एक नागरिक इस आनन्द का अनुभव ही नहीं कर सकता। इस आनन्द का अनुभव मुझे उस समय हुआ जब मैंने जैन धर्म को पहचाना। यह घटना सन् १९४८ में घटित हुई थी।

इस प्राचीन धर्म की पवित्रता ही वह मुख्य कारण है जिसने मुझे अन्ततोगत्वा जैन भ्रातृसंघ में सम्मिलित होने के लिए बाध्य किया। जैन धर्म के सिद्धांत मुझे ऐसे लगे कि जिन्हें एक बालक भी समझ ले और उन्हें पाकर प्रसन्न हो उठे।

जैन सिद्धांत में वह सब कुछ तात्त्विक तथ्य मौजूद है जो कि शाश्वत आनन्द का एक स्रोत है। जन्मतः मैं पश्चिम का नागरिक हूं और बचपन से मैं कट्टर ईसाई धर्म में पाला-पोसा गया हूं, किन्तु होश सम्भालते ही मैंने पाया कि जो सिद्धांत जबरदस्ती मेरे गले उतारे गये थे, वे सचमुच ठीक न थे। अपने प्रारम्भिक जीवन में मुझे यह जानकर बड़ा दुख होता था कि परमात्मा दयालु और साथ ही क्रूर भी है। वह मनमाना दण्ड या पुरस्कार लोगों को देता है।

इस परमात्मा या ईश्वर के सम्बन्ध में मुझे यह भी सिखाया गया कि उसे मानव-सृष्टि की रचना करने पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ था। जब भी मैं यह सुनता था कि एक शराबी मर गया अथवा कोई पापी मर गया तो मानसिक क्रूरता की पीड़ा में छटपटा उठता था। क्योंकि मुझे बताया गया था कि उसे अनन्त काल तक जलते हुए अंगारों की पीड़ा में जलना होगा।

इसके विपरीत जैन धर्म ने मुझे सिखाया कि अहिंसा ही परम धर्म

है। यह वह सिद्धांत है जिसकी घोषणा मैं अब बड़े हर्ष से करता हूं। जैनों का विश्वास है कि सभी प्राणी पवित्र आत्माएं हैं।

यह शिक्षा मेरे हृदय को बहुत रुचिकर हुई। इसमें मैंने अनुभव किया कि जीवन का एक उद्देश्य है जिसे प्रत्येक को पूरा करना है। फिर भले ही जीवन भिन्न-भिन्न हो। एक कीड़े की आत्मा को भी यही उद्देश्य पूरा करना है, अतः उसे भी ठुकराना उचित नहीं है। जैन धर्म सिखाता है कि भोजन के लिए पशुओं की हत्या करना सर्वथा उचित नहीं है।

जैनों के पांच व्रत ये हैं -

१. हिंसा न करो, अहिंसा पालो।

२. झूठ न बोलो, सत्य कहो।

३. चोरी न करो, ईमानदार रहो।

४. व्यभिचार छोड़ो, शील धर्म पालो।

५. सांसारिक सम्पदा का मोह छोड़कर, अपरिग्रही बनो।

मैंने शीघ्र ही अनुभव किया कि यदि इन शिक्षाओं को दैनिक जीवन में उतारा जाये तो सारे लोक का बड़ा हित हो सकता है। क्योंकि धन-संचय करने की दुर्भावना ने ही राष्ट्रों पर महान विपत्ति का पहाड़ उंड़ेल दिया है।

जैन धर्म का यह संदेश अत्यंत प्राचीन है। यह सत्य हमें क्रमशः चौबीस तीर्थंकरों के द्वारा मिला है और वह भी जीव मात्र के लिए, जो चाहे वह धारण करे। इसे धारण करना अपने को शाश्वत सुख के मार्ग पर आगे बढ़ा देना है।

चौबीस तीर्थंकरों में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे और अन्तिम महावीर वर्द्धमान।

जैन धर्म सिखाता है कि जीवन अमर है और अपने स्वभाव में दर्शन और ज्ञान का पिंड है। जब शरीर और इन्द्रियवासना में फंसकर वह अपने स्वभाव को खोता है तभी वह बन्धन में पड़ता है। वह

बन्धन की प्रकृतियों (सूक्ष्मतम पुद्गल) का बन्धन है जो मन, वचन, कर्म और शुभाशुभ प्रवृत्ति के अनुसार होता है, अतः कर्म भी अच्छे या बुरे होते हैं।

'जिन' शब्द का अर्थ है विजेता (Conaueror) पर जैन धर्म में विजेता का अर्थ उस व्यक्ति से है जो अपने हीन स्वभाव (Lawer nature) पर विजय पाता है, राग-द्वेषादि को जीतता है, अतः स्पष्ट है कि जैन धर्म मुक्ति का सच्चा मार्ग बताता है और कहता है - 'जब व्यक्ति कर्मों को जीत लेता है, तब उसे मुक्त दशा मिलती है।'

जीवात्मा कर्म-बन्धन से मुक्त होकर ही अपने स्वाभाविक गुणों में चमकती है। इस मुक्ति के मार्ग पर व्यक्ति को स्वयं अकेले ही आगे बढ़ना होता है, कोई सहारा नहीं। स्वावलम्बी और एकाकी वह आगे बढ़ जाता है, और मुक्ति को प्राप्त करता है। उस मुक्ति-विजयी का आनन्द महान है। वह एकटक अपने ध्येय में लीन रहता है। संसार के क्षणभंगुर भोग-विलास के साधन उसके लिए हेय हो जाते हैं। वह उन्हें आत्मोन्नति में बाधक भी मानता है।

जैन धर्म की इन पवित्र शिक्षाओं की गहरी छाप मेरे हृदय पर पड़ी। मैंने खुशी-खुशी इन महाविजेताओं की शिक्षा को ग्रहण किया और गत दो वर्षों से मैं उसकी गहराई में स्वाध्याय द्वारा उतरा हूं कि इन शिक्षाओं पर अमल करने से ही मानव भौतिक जीवन के झूठे प्रलोभनों को जीत सकता है। ध्यान की एकाग्रता अपना ही फल दिखाती है, आत्मा के पवित्र स्वभाव पर कुछ मिनटों तक ध्यान करने से एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।

मुमुक्षु को विश्वास होता है कि संसार-चक्र से छूटने के लिए जीवात्मा का पवित्र होना परमावश्यक है। यह भौतिक सुख वस्तुतः है क्या ? उसकी निस्सारता मुझे जैन धर्म के प्रकाश में दिख गयी ।

मैं देखता हूं कि वे मृग-मरीचिका मात्र हैं। जब तक मैंने उनमें मन

लगाया अथवा भोगा, तब तक मैं आत्मानुभूति से दूर रहा ।

जैनों का शांतिप्रिय भ्रातृ-संघ हैं। वे अहिंसा का संदेश सबको सुनाते हैं। उनको देखकर इच्छा होती है कि हम उनके जैसे हों । उनका प्रेम और करुणा का भाव सभी जीवों, मनुष्यों और पशुओं के लिए समान रूप है।

जैन मधुमक्खी तक का सम्मान करते हैं जैन कोई नशीली चीज भी नहीं लेते। वे तो इनको मोक्ष-मार्ग की बाधाएं मानते हैं। जैन किसी भी शर्त पर कभी मांस-मछली नहीं खाते और न अण्डों का प्रयोग करते हैं।

एक जैन गृहस्थ उपर्युक्त पांच अणुव्रतों का पालन करता हुआ जीवन व्यतीत करता है। इसीलिए मैं अपने को जैन गृहस्थ प्रकट करते हुए गौरव का अनुभव करता हूं। समयानुसार वह गृहस्थ उपवास और ध्यान भी करता है।

जैन साधु और साध्वी इन व्रतों का पालन पूर्ण रूप से करते हैं और तपस्वी जीवन बिताते हैं।

जैन किसी पर अपने सिद्धांतों को जबरदस्ती नहीं लादते । जो जैन-संदेश सुनना चाहें, उनको वे संदेश बताते हैं।

मैं अपने अनुभव से कह सकता हूं कि जो व्यक्ति जैन शिक्षाओं को मानकर, उन पर अमल करता है वह निश्चय ही आनन्द-धाम को पाता है, जिसका ध्यान उसने कभी स्वप्न में भी न किया होगा।

जैन धर्म के सिद्धांत आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल नहीं, बल्कि अनुकूल है। जैन धर्म के अन्ध-श्रद्धा के लिए कोई स्थान नहीं है। पश्चिम की तरह आपको अन्धे होकर बात स्वीकार करने को बाध्य नहीं किया जाएगा।

जैन सिद्धांत तुम्हारे मस्तिष्क के प्रतिकूल कभी न जाएगा। अलबत्ता शरीर के लिए वह कुछ अप्रिय हो, किन्तु मोक्ष-मार्ग पर चलते ही

आत्मा का महान् हित होने लगता है।

मेरी इच्छा है कि पश्चिम वालों को जैन सिद्धांत का पूरा ज्ञान कराऊं। अतः जिज्ञासुओं से मिलने में मुझे प्रसन्नता होती है। मेरे जीवन में तो वह दिन महान् हुआ है जिस दिन मुझे जैन शिक्षा का ज्ञान हुआ, क्योंकि उससे प्रत्येक के लिए मुक्ति का द्वार खुलता है।

अब मेरी आत्मा में एक अपूर्व आह्लाद जमा है जो पहले कभी नहीं जमा था। सचमुच जैन धर्म में राष्ट्रों के लिए शान्ति की कुञ्जी छिपी है। यह शांति बातुनी और बाहरी नहीं है, बल्कि अन्तर की आध्यात्मिक शांति है। जहां एक बार अनुभव किया कि आपको भी आनन्द मिलेगा, जिसे मैंने पाया है और समझेंगे कि मैं अपने को 'जैन' कहने में क्यों गौरव का अनुभव करता हूं। दूसरों से मैं सहर्ष कहता हूं कि मैं जैनी क्यों हुआ ?

प्रश्न :

१. मैथ्यू को प्रभावित करने वाला जैन धर्म का कौन-सा सिद्धांत था ?

२. मैथ्यू मैक्के के अनुसार जैन गृहस्थ के आचार की व्याख्या करो।

३. क्या मैथ्यू के जीवन से आपको जैन धर्म के प्रचार की प्रेरणा मिलती है?

१५

जैनों के वर्तमान सम्प्रदाय

जहां विचार होता है वहां विचार-भेद अवश्यम्भावी है। विचारों का समन्वय जहां संगठन का सूत्र देता है वहां विचार भेद संप्रदायों को जन्म भी देता है। विचार-भेद के कारण ही नये-नये सम्प्रदाय खड़े होते रहते हैं।

भगवान् महावीर के शासन में विचार-भेद का क्रम उनकी विद्यमानता में ही हो गया था। गोशालक प्रारम्भ में भगवान् का शिष्य था, परन्तु बाद में पृथक होकर एक अलग सम्प्रदाय का आचार्य हो गया था। इसी तरह भगवान् का जामाता जमाली भी विचार-भेद के कारण पृथक हो गया था। वे दोनों ही महावीर के विचारों के विरोध में खड़े हुए। इसलिए उनकी गणना जैन सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं है और आज उनके संप्रदाय का कोई अस्तित्व भी नहीं रहा है। भगवान् महावीर के बाद जैन संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो विभागों में विभक्त हो गया था।

जम्बू स्वामी के पश्चात् कुछ समय तक दोनों परंपराएं आचार्यों का भेद स्वीकार करती हैं और भद्रबाहु के समय में फिर दोनों एक बन जाती हैं। उस समय संघ एक था, फिर भी गण और शाखाएं अनेक थीं। आचार्य और चतुर्दश पूर्वी भी अनेक थे, किन्तु प्रभव स्वामी के समय से मतभेद बढ़ने लगा ऐसा प्रतीत होता है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर

दोनों ही संप्रदायों की स्थापना कब हुई, यह इतिहास का विषय है, फिर भी श्वेताम्बर मत के अनुसार वीर-निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद दिगंबर संप्रदाय का जन्म हुआ था, और दिगम्बर मत के अनुसार वीर-

निर्वाण के ६०६ वर्ष के बाद श्वेताम्बर संप्रदाय का जन्म हुआ था। दोनों संप्रदाय अपने को मुख्य शाखा मानकर चलते हैं, परन्तु इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि एक का नामकरण हो जोने के बाद ही दूसरे का नामकरण हुआ है। दोनों नामों में वस्त्र को प्रधानता दी गयी है। एक परंपरा वस्त्र का निषेध करती है तो दूसरी वस्त्र का समर्थन। भगवान् महावीर के समय में जिनकल्प व स्थविर कल्प-इन दो परंपराओं का विकास हुआ था। वे दोनों ही परंपराओं को समान रूप से स्थान देते थे। अचेल (वस्त्र रहित) मुनि जिनकल्प कहलाते थेऔर सचेल (वस्त्र सहित) मुनि स्थविरकल्प। आगे चलकर ये दोनों परंपराएं दिगम्बर व श्वेताम्बर रूप में विकसित हुई हों, ऐसा प्रतीत होता है। दिगम्बर मुनि वस्त्र नहीं रखते, हाथ में कमण्डलु व मयूरपिच्छी रखते हैं। श्वेताम्बर वस्त्र रखते हैं और हाथ में ऊन का बना हुआ एक रजोहरण ।

श्वेताम्बर परम्परा में मुख्यतया तीन संप्रदाय हैं - संवेगी (मूर्तिपूजक), स्थानकवासी और तेरापंथी ।

संवेगी

संवेगी परम्परा मूर्ति पूजा स्वीकार करती है। इनमें भी अनेक गच्छ हैं - खतरगच्छ, तपागच्छ, अचलगच्छ आदि ८४ गच्छ कहे जाते हैं। इनके अलग-अलग आचार्य होते हैं।

स्थानकवासी

स्थानकवासी परम्परा का उद्भव लोंकागच्छ से हुआ है। लोंकागच्छ का उद्भव विक्रम सं. १५३५ के आसपास माना जाता है। लोंकाशाह एक श्रावक थे, उन्होंने शास्त्रों के आधार पर मूर्ति-पूजा को अमान्य किया। उनके विचारों से कई लोग प्रभावित होकर दीक्षित हुए और लोंकागच्छ का आरम्भ हो गया। आगे चलकर उसका प्रभाव बहुत तेजी से होने लगा। अनेक लोग मूर्ति-पूजा को छोड़ लोंकागच्छ के

अनुयायियों में आने लगे, आगे चलकर लवजी मुनि हुए। उन्होंने वि. सं. १७०९ में ढूंढिया सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। कालांतर में इसी शाखा में आचार्य धर्मदासजी हुए। उनके ९९ शिष्य थे। आगे चलकर यही सम्प्रदाय स्थानकवासी नाम से प्रचलित हुआ।

तेरापंथ

स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्य रुघनाथजी से आचार्य भिक्षु, आचार-विचार में मतभेद होने के कारण वि. सं. १८१७ में अलग हुए। उनके सम्प्रदाय का नाम तेरापंथ पड़ा, जो श्वेताम्बर संप्रदाय में अन्तिम संप्रदाय माना जाता है। तेरापंथ की तीन विशेषताएं हैं - (१) एक आचार, (२) एक विचार, (३) एक आचार्य। यह एक अनूठा संगठन है।

श्वेताम्बरों की तरह दिगम्बरों में भी अनेक शाखाएं हैं। बीसपंथ, बाइसपंथ, तेरापंथ, तारणपंथ आदि-आदि ।

उनमें तारणपंथ संप्रदाय का उदय वि. सं. १५०५ से १५७३ के आस-पास माना जाता है। इसका प्रारंभ मूर्ति-पूजा के विरोध में हुआ था, परन्तु इसका प्रसार नहीं हो सका, मध्यभारत में बहुत थोड़े लोग इसको मानने वाले हैं।

दिगम्बर परंपरा श्वेताम्बर आगमों को प्रमाण नहीं मानती। यह मुख्य रूप में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों को प्रमाण मानती है।

प्रश्न :

१. जैन धर्म में मुख्यतः कितने सम्प्रदाय हैं ?

२. श्वेताम्बरों के अनुसार दिगम्बर संप्रदायों का प्रारम्भ कब हुआ था ?

३. सचेल और अचेल शब्द का अर्थ क्या है ?

४. स्थानकवासी सम्प्रदाय का उद्‌भव कब हुआ ?

५. तेरापंथ की क्या विशेषताएं हैं ?

१६
जैन कला

जैन परम्परा में कला शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने पुरुषों के लिए ७२ और स्त्रियों के लिए ६४ कलाओं का निरूपण किया है। इसमें लेख, गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, स्थापत्य आदि अनेक कलाओं का समावेश किया गया है।

चित्र-कला

जैन चित्र-कला का श्रीगणेश तत्त्व-प्रकाश से होता है। गुरु अपने शिष्यों को चित्रों के द्वारा तत्त्व समझाते थे। जब ताड़पत्र व अन्य पत्रों पर ग्रंथ लिखे गए तब उनमें स्थान-स्थान पर चित्र अंकित किये गए। फिर भित्ति-चित्रों का विकास हुआ। भित्ति-चित्रों तथा पट्ट-चित्रों में जैन-आख्यायिकाएं तथा तीर्थंकरों के जीवन-वृत्त चित्रित किए गए।

लिपि-कला

अक्षर-विन्यास भी एक सुकुमार कला है। जैन मुनियों व यतियों ने इसको बहुत विकसित किया। सौन्दर्य और सूक्ष्मता दोनों दृष्टि से उसे उन्नति-शिखर तक ले गये। इन पन्द्रह सौ वर्षों में हजारों-हजारों प्रतियां लिखी गयीं।

तेरापंथ के मुनियों ने इस कला को और आगे बढ़ाया । सूक्ष्म-लिपि में वे अग्रणी हैं। कई मुनियों ने ४ इंच चौड़े व ९ इंच लंबे पन्ने में २००० श्लोक, लगभग ८० हजार अक्षर लिख कर हस्तलेखन में नया मानदण्ड स्थापित किया। इस कला से आमजन को परिचित करवाने के लिए तेरापंथ समाज ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस समाज की विश्व

विख्यात संस्था जैन विश्व भारती स्थित तुलसी कला प्रेक्षा उसका प्रतिफल है। इस गैलेरी में कला के अद्भुत नमूनों को देख देशी-विदेशी पर्यटक आश्चर्यचकित हो जाते हैं।

स्थापत्य कला

धीरे-धीरे मूर्ति-कला का विकास हुआ। सबसे प्राचीन मूर्ति मौर्य-काल की मानी जाती है। वह पटना के लौहनीपुर स्थान से प्राप्त हुई है। खंडगिरि और उदयगिरि में ई. पू. दूसरी शताब्दी तक की शुंग-कालीन मूर्ति में शिल्प-कला का अद्भुत चातुर्य प्रदर्शित हुआ है।

मौर्य और शुंग-काल के पश्चात् भारतीय मूर्ति-कला की मुख्य तीन धाराएं हैं -

१. **गांधार कला** - जो उत्तर पश्चिम में पनपी ।

२. **मथुरा कला** - जो मथुरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में विकसित हुई।

३. **अमरावती कला** - जो कृष्णा नदी के तट पर विकसित हुई।

जैन-स्थापत्य कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खंडगिरि और जूनागढ़ की गुफाओं में मिलते हैं। स्थापत्य कला की दृष्टि से ऐलोरा की गुफाएं भी महत्वपूर्ण हैं। ऐलोरा में उत्कीर्ण ब्राह्मण और बौद्ध गुफाओं के अतिरिक्त वहां ३०-४० जैन गुफाएं हैं। इनमें गुफा नं. ३२ तथा ३३ विशेष उल्लेखनीय है। उत्तरवर्ती स्थापत्य कला की दृष्टि से चित्तौड़ का कीर्ति-स्तम्भ, देलवाड़ा, आबू और रणकपुर के जैनमंदिर महत्त्वपूर्ण हैं।

मूर्ति-कला की दृष्टि से श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) में भगवान् बाहुबलि की ५७ फुट ऊंची मूर्ति संसार की अद्भुत कलाकृति है। वह अपने सौन्दर्य से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। मध्यप्रदेश बड़वानी गांव में भगवान् ऋषभदेव की ८४ फुट ऊंची मूर्ति

है। वह विश्व में सबसे ऊंची मूर्ति मानी जाती है। यह विश्व को जैन मूर्तिकला की अनुपम देन है।

प्रश्न :

१. भारतीय मूर्ति कला की मुख्य धाराओं के नाम बताओ।

२. तेरापंथ के मुनियों ने एक पन्ने में कितने अक्षर लिखे।

३. एलोरा की गुफाओं में जैन गुफाएं कितनी हैं ?

४. विश्व में सबसे ऊंची मूर्ति कौन-सी है ?

१७

स्याद्वाद - दर्शन

स्याद्वाद का अर्थ

स्याद्वाद, जैन दर्शन के मन्तव्य को भाषा में उतारने की पद्धति को कहते हैं। 'स्याद्वाद' के 'स्यात्' पद का अर्थ है - अपेक्षा या दृष्टिकोण और 'वाद' पद का अर्थ है - सिद्धांत या प्रतिपादन। दोनों पदों से मिलकर बने इस शब्द का अर्थ हुआ - किसी वस्तु, धर्म, गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना 'स्याद्वाद' है।

पदार्थ एक - धर्म अनेक

पदार्थ में जो अनेक अपेक्षित धर्म हैं, उन सबका यथार्थ ज्ञान तभी संभव हो सकता है, जबकि उस अपेक्षा को सामने रखा जाये। दर्शन-शास्त्र में नित्य-अनित्य, सत्-असत्, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि तथा लोक-व्यवहार में छोटा-बड़ा, स्थूल-सूक्ष्म, दूर-समीप, स्वच्छ-मलिन, मूर्ख-विद्वान आदि अनेक ऐसे धर्म हैं, जो आपेक्षित हैं। इनका तथा इन जैसे अन्य किसी भी धर्म या गुण का जब हम भाषा के द्वारा कथन करना चाहते हैं तब वह उसी हद तक सार्थक हो सकता है, जहां तक हमारी अपेक्षा उसे अनुप्राणित करती है। जिस अपेक्षा से हम जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, उसी समय उसी पदार्थ के किसी दूसरे धर्म की अपेक्षा से दूसरे शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है। वह भी उतना ही सत्य होगा, जितना कि पहला। सारांश यह है कि एक पदार्थ के विषय में अनेक ऐसी बातें हमारे ज्ञान में सन्निहित होती हैं, जो एक ही समय में सारी-की-सारी समान रूप से सत्य होती हैं।

स्यात् शब्द का प्रयोग

वस्तु के इस पूर्ण रूप को किसी दूसरे व्यक्ति के सामने रखते समय इसे विभक्त करके ही रख सकते हैं। भाषा की अपूर्णता के कारण ऐसा करने के लिए हम बाधित हैं। कोई एक शब्द वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों की अभिव्यक्ति कर सके - ऐसा संभव नहीं है, अतः भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा भिन्न-भिन्न धर्मों का प्रतिपादन कर हम वस्तु सम्बन्धी अपना अभिप्राय दूसरों के सामने रख सकते हैं। जिस धर्म का प्रतिपादन करते हैं, उसके लिए तद्बोधक शब्द का प्रयोग करते हैं और अवशिष्ट विरोधी तथा अविरोधी समस्त धर्मों के लिए प्रतिनिधि स्वरूप 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका भाव होता है कथ्य-मान धर्म के अतिरिक्त और अनेक धर्म भी इस वस्तु में विद्यमान हैं सही, परन्तु इस समय हम सबकी सूची ही कर सकते हैं, कथन नहीं।

विभिन्न अपेक्षायें

भिन्न-भिन्न अपेक्षायें भिन्न-भिन्न जिज्ञासाओं के उत्तर से स्वयं फलित होती हैं। एक वस्त्र विशेष के लिए पूछने वालों को हम उनकी जिज्ञासाओं के अनुसार ये भिन्न-भिन्न उत्तर दे सकते हैं -

१. यह वस्त्र रूई का है ।

२. यह वस्त्र मिल का है।

३. यह वस्त्र नरेन्द्र का है।

४. यह वस्त्र पहनने का है।

५. यह वस्त्र पांच रुपये का है।

अब बतलाइये यह वस्त्र किस-किस का समझा जाये ? किसी एक का या पांचों का ? इन पांचों कथनों में से कोई भी कथन ऐसा नहीं, जिसे अप्रमाणित कहा जा सके। पांच ही बातें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उसी एक वस्त्र के विषय में सत्य है। पांच ही क्यों ? २ गज का है, भारत का है, सन् १९५५ का है आदि और भी अनेक बातें उसके

विषय में कही जा सकती है और सबकी सब समान रूप से सत्य हो सकती हैं। इनमें से प्रत्येक कथन वस्त्र संबंधी कोई-न-कोई नयी जानकारी देता है। एक बात में जो बात कही गयी है, दूसरे प्रत्येक वाक्य में उनसे भिन्न बातें कही गयी हैं। फिर भी इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। विरोध इसलिए नहीं कि प्रत्येक की अपेक्षाएं भिन्न हैं। यह वस्त्र उपादान कारण की अपेक्षा से रूई का, तो सहकारी कारणों की अपेक्षा से नरेन्द्र का, कार्यक्षमता की अपेक्षा से पहनने का तथा मूल्य की अपेक्षा से पांच रुपये का है। प्रश्नकर्ताओं की ये जिज्ञासाएं - यह वस्त्र रूई का है या रेशम का ? मिल का है या हाथ का ? नरेन्द्र का है या विरेन्द्र का ? पहनने का है या ओढ़ने का ? कितने मूल्य का है - उत्तरदाता को भिन्न-भिन्न उत्तर देने को प्रेरित करती हैं। किसी एक उत्तर से सारी जिज्ञासाएं शांत नहीं हो सकती।

साधारण लोक-व्यवहार में अपेक्षा-भेद से कथन का यह प्रकार जितना मौलिक, उचित और सत्य है, उतना ही दार्शनिक क्षेत्र में भी । उपर्युक्त वस्त्र सम्बन्धी ज्ञान में एकांतवादिता सत्य से जितनी दूर ले जा सकती है, तत्त्वज्ञान संबंधी एकांतवादिता भी उतनी ही दूर ले जाती है, अतः दार्शनिक क्षेत्र में भी 'स्यादवाद्' (अपेक्षावाद) का प्रयोग आदरणीय ही नहीं, अनिवार्य भी है।

है और नहीं है

वस्त्र की दुकान पर किसी दुकानदार से पूछा - 'यह सूत का है ना ?' दुकानदार ने उत्तर दिया -'हां साहब ! यह सूत का है।' दूसरे व्यक्ति ने आकर उसी वस्त्र के विषय में पूछा -'क्यों साहब !यह वस्त्र रेशम का है ना?' दुकानदार बोला - नहीं, यह रेशम का नहीं है।' यहां कथित वस्त्र के लिए - 'यह सूत का है' यह बात जितनी सत्य है उतनी ही 'यह रेशम का नहीं है' यह भी सत्य है। एक ही वस्त्र के विषय में सूत की अपेक्षा से 'सत्' अर्थात् 'है' और रेशम की अपेक्षा से 'असत्'

अर्थात् 'नहीं है' का कथन किसको अखर सकता है ? स्याद्वाद भी तो यही कहता है। सत् है, तो वह असत् कैसे हो सकता है ? यह शंका तो ठीक ऐसी ही है कि पुत्र है तो वह पिता कैसे हो सकता है। परन्तु वह अपने पिता का पुत्र है तो वह अपने पुत्र का पिता भी हो सकता है। इसमें कोई विरुद्धता नहीं आ सकती, क्योंकि अपेक्षाएं भिन्न हैं।

स्याद्वाद के मतानुसार प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से 'सत्' है तथा परद्रव्य क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा से 'असत्'। इसे सरलतापूर्वक यों समझा जा सकता है - एक घड़ा स्वद्रव्य - मिट्टी की अपेक्षा से 'सत्' अस्तित्व युक्त है, परद्रव्य-वस्त्रादि इतर वस्तुओं की अपेक्षा से 'असत्' है अर्थात् घड़ा है, वस्त्र नहीं ।

द्रव्य के समान ही किसी बात की सत्यता में क्षेत्र की अपेक्षा भी रहती है। कोई घटना किसी एक क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य हो सकती है। जैसे - भगवान् महावीर का निर्वाण 'पावा' में हुआ। भगवान् के निर्वाण की यह घटना पावा क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य है, परंतु यदि कोई कहे 'भगवान् का निर्वाण राजगृह में हुआ' तो यह बात असत्य ही कही जायेगी।

द्रव्य और क्षेत्र के समान ही पदार्थ की सत्ता और असत्ता बनाने के लिए काल की भी अपेक्षा है, जैसे - आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात वि. संवत् २००५ में किया। इसके अतिरिक्त किसी अन्य काल का कथन किया जाए तो वह अणुव्रत आंदोलन के संबंध में सत्य प्रकट नहीं कर सकता।

इसी प्रकार वस्तु की सत्यता में भाव भी अपेक्षित है, जैसे पानी में तरलता होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तरलता नामक भाव से ही पानी की सत्ता पहचानी जा सकती है, अन्यथा तो वह हिम, वाष्प या कुहरा ही होता, जो कि पानी नहीं, किंतु उसके रूपांतरण हैं।

उपर्युक्त प्रकार से हम जान सकते हैं कि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से ही है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से नहीं । यदि परद्रव्य आदि से भी उसकी सत्ता हो सकती तो एक ही वस्तु सब वस्तु होती और सब क्षेत्र, सब काल और गुण युक्त भी होती।

परन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें स्वधर्मों की सत्ता के समान ही परधर्मों की असत्ता भी विद्यमान है। स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से घट में अस्ति शब्द का विषय बनने की जितनी योग्यता है, उतनी ही परद्रव्यादि की अपेक्षा से नास्ति शब्द का विषय बनने की भी। यही कारण है कि घड़े का स्वरूप विधि और निषेध दोनों से प्रकट होता है।

सत्-असत्, अस्ति-नास्ति, विधि-निषेध के आपेक्षिक कथन के समान ही वस्तु में सामान्य-विशेष, एक-अनेक आदि विभिन्न धर्मों का भी आपेक्षिक अस्तित्व समझना चाहिए ।

स्याद्वाद की सीमा

स्याद्वाद का सिद्धांत जिस वस्तु में जो भी अपेक्षाएं घटित होती हैं उन्हें ही निर्भीकतापूर्वक स्वीकार करने का अनुरोध करता है। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं है कि जो अपेक्षाएं न हों, उन्हें भी स्याद्वाद के आधार पर माना जाये। अश्वश्रृंग, आकाश-कुसुम और वन्ध्या-सुत के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए स्याद्वाद की कोई अपेक्षा लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इनकी तो सत्ता ही असिद्ध है। स्याद्वाद का काम वस्तु को यथार्थ रूप से प्रकट करने का ही है, न कि जैसा हम चाहें, वैसा वस्तु को बना देने का।

वैचारिक देन

भगवान् महावीर ने जगत् को जीवन-क्षेत्र में अहिंसा को जितनी बहुमूल्य देन दी है, विचार-क्षेत्र में भी स्याद्वाद की देन उतनी ही

बहुमूल्य मानी जाती है। अहिंसा जीवन को उदार और सर्वांगीण बनाती है तो स्याद्वाद विचारों को। एकांगी विचार अपूर्ण और वास्तविकता से दूर होता है जब कि सर्वांगीण विचार पूर्ण और वास्तविक होता है।

प्रश्न :

१. स्याद्वाद का क्या अर्थ है ?

२. सत् असत् से तुम क्या समझते हो ?

३. स्याद्वाद के सिद्धांत से तुम्हें क्या शिक्षा मिलती है ?

१८

जैन मुनि की चर्या

भारत में तीन मुख्य दार्शनिक परम्पराएं रही हैं - जैन, बौद्ध और वैदिक। तीनों परम्पराओं ने भारतीय संस्कृति को संवारा है और इनका अवदान आज भी सर्वत्र मुखरित हो रहा है। इन परम्पराओं में दीक्षित हजारों-हजारों साधु-संन्यासियों ने घर-घर और गांव-गांव घूमकर लोगों को उद्‌बुद्ध किया। उन्हें मुक्ति का मार्ग दिखाया।

प्रस्तुत पाठ में जैन मुनि की चर्या और मुनि-जीवन के विषय में प्रकाश डालेंगे ।

मुनि का अर्थ है - ज्ञानी । जब व्यक्ति के मन में दुःख-मुक्ति की भावना जागृत होती है तब वह संसार से विमुख हो जाता है। उसका वैराग्य जब चरम बिंदु पर पहुंचता है तब वह सांसारिक बंधनों और परिचयों को तोड़कर दीक्षा ग्रहण करता है। दीक्षा का अर्थ है - मुनि-जीवन का स्वीकार । जैन परम्परा में दीक्षा सावधिक नहीं होती, वह जीवन पर्यन्त होती है। बौद्ध-परम्परा में दीक्षा की अवधि एक वर्ष की भी हो सकती है और पांच दस वर्ष की भी हो सकती है। जैन परम्परा में ऐसा नहीं होता। जो व्यक्ति दीक्षित होता है, वह जीवन-भर के लिए होता है। दीक्षित होने वाले व्यक्ति का शैक्षणिक ज्ञान नहीं देखा जाता, उसकी वैराग्य भावना का मूल्यांकन होता है। सामान्य साक्षर व्यक्ति भी दीक्षित हो सकता है और पंडित भी हो सकता है। दीक्षा की न्यूनतम आयु नौ वर्ष मानी जाती है और अधिकतम आयु की कोई सीमा निर्धारित नहीं है। दीक्षा की कसौटी वैराग्य है, वय नहीं। दीक्षा ग्रहण से पूर्व माता-पिता या अभिभावक की स्वीकृति आवश्यक होती है। स्वीकृति प्राप्त होने पर ही आचार्य हजारों व्यक्तियों के मध्य दीक्षा

प्रदान करते हैं। अतः जैन दीक्षा में प्रलोभन, फुसलाहट आदि का प्रयोग नहीं होता। जहां ऐसा होता है वह दीक्षा अयोग्य होती है।

पांच महाव्रत

जैन मुनि को महाव्रतों का पालन करना होता है। महाव्रतों में कोई विकल्प नहीं होता। वे सर्वात्मना, पूर्णरूप में स्वीकार किये जाते हैं। देश, काल या परिस्थिति में उनके स्वरूप का रूपांतरण नहीं होता। वे शाश्वत धर्म हैं। महाव्रत पांच हैं -

१. अहिंसा महाव्रत

यह पहला महाव्रत है। मुनि मन, वचन और शरीर से अहिंसा का पालन करता है। वह न किसी जीव को मार सकता है, उत्पीड़न या दुःख दे सकता है और न दूसरों से हिंसा करवा सकता है। वह हिंसात्मक प्रवृत्तियों का अनुमोदन भी नहीं कर सकता। वह पूर्ण अहिंसक होता है।

२. सत्य महाव्रत

यह दूसरा महाव्रत है। जैन मुनि किसी भी परिस्थिति में असत्य का आश्रय नहीं ले सकता। असत्य बोलने के चार कारण हैं - क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य । जैन मुनि इनका सर्वथा वर्जन करता है। वह ऐसा वचन भी नहीं बोल सकता जो कठोर हो, हिंसात्मक हो, अपमानजनक हो, आदि-आदि।

३. अचौर्य महाव्रत

यह तीसरा महाव्रत है। इसे अदत्तादान भी कहते हैं। अदत्त का आदान, अर्थात् बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण जैन मुनि के लिए निषिद्ध है। स्वामी की बिना आज्ञा लिए एक तिनका भी उठाना चोरी है। स्वामी की आज्ञा लिए बिना किसी स्थान में ठहरना, किसी वस्तु का उपयोग करना - यह अवैध कार्य है। जैन मुनि ऐसा नहीं कर सकता।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत

यह चौथा महाव्रत है। मन, वचन और शरीर से अब्रह्मचर्य से विरत रहना ब्रह्मचर्य है। आत्म-रमण करना ब्रह्मचर्य है। जैन मुनि इसकी परिपालना के लिए किसी स्त्री का स्पर्श नहीं कर सकते, किसी अकेली स्त्री से एकान्त में बात नहीं कर सकते। वे उत्तेजना पैदा करने वाला साहित्य नहीं पढ़ सकते है स्त्री-संबंधी चर्चा से विरत रहते हैं।

५. अपरिग्रह महाव्रत

यह पांचवा महाव्रत है। परिग्रह के दो अर्थ हैं - ममत्वभाव और वस्तु। अपरिग्रह अर्थात् अममत्वभाव और असंग्रह। जैन मुनि जीवन-निर्वाह के लिए अत्यंत उपयोगी वस्त्र, पात्र आदि रखते हैं, किन्तु उनका भी संग्रह नहीं करते। वस्त्र और पात्र की एक सीमा निर्धारित है। उस सीमा का उल्लंघन अपरिग्रह महाव्रत का उल्लंघन माना जाता है। वे पैसा, सोना चांदी आदि नहीं रख सकते।

इन पांच महाव्रतों के साथ-साथ पांच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना होता है। समिति का अर्थ है सम्यक् प्रवृत्ति और गुप्ति का अर्थ है गोपन, संयम।

पांच समितियां

१. **ईर्या समिति** - चलने-फिरने, उठने-बैठने में संयम का पालन करना। युग प्रमाण भूमि को देखकर चलना, प्रमार्जन कर बैठना आदि।

२. **भाषा समिति** - विवेकपूर्ण बोलना, कठोर वचन न कहना। अपमानजनक शब्द न बोलना, व्यंग न कसना, मर्मकारी या हिंसात्मक भाषा का प्रयोग न करना।

३. **एषणा समिति** - भिक्षा संबंधी दोषों का वर्जन करना।

४. **आदान-भंड-निक्षेपणा समिति** - अपनी निश्राय में स्थित सभी प्रकार के वस्त्र, पात्र, पुस्तकें या अन्यान्य छोटे-मोटे

उपकरणों को रखने, उठाने या उपयोग में लाते समय पूर्ण सावधानी बरतना, हिंसा से बचना।

५. **उत्सर्ग समिति** - मल-मूत्र के उत्सर्ग में पूर्ण विवेक और सावधानी बरतना जैन मुनि का परम कर्त्तव्य है। मल-मूत्र विसर्जन की उनकी अपनी एक अहिंसात्मक पद्धति है। उसका पालन करना होता है।

तीन गुप्तियां

१. **मनोगुप्ति** - मन को संयमित कर आत्मा में लगाये रखना ।

२. **वचन गुप्ति** - वाणी का संयम । अनावश्यक न बोलना ।

३. **काय गुप्ति** - अनावश्यक चलना-फिरना नहीं।

जैन मुनि को पांच महाव्रतों, पांच समितियों और तीन गुप्तियों - इन तेरह नियमों का पालन अनिवार्यतः करना होता है। वे इस अर्थ में तेरापंथी कहलाते हैं। ये मूल नियम हैं ।

इनके अतिरिक्त दूसरे अनेक नियम हैं, जिनका मुनियों को अनिवार्यतः पालन करना होता है।

जैन मुनि की दैनिक चर्या

१. प्रातः काल लगभग चार बजे जागरण ।

२. सूर्योदय से एक मुहूर्त्त पूर्व प्रतिक्रमण करना - रात्रिकालीन दोषों का प्रायश्चित करना।

३. प्रतिलेखन करना - अपने पास रहे सभी वस्त्र, पात्र आदि का प्रतिलेखन।

४. शौच से निवृत्त होकर, अध्ययन-अध्यापन करना एवं प्रवचन देना।

५. जहां शुद्ध भोजन मिले वहां भिक्षा के लिए जाना। सामुदायिक गोचरी करना। जातिगत भेदभाव नहीं करना।

६. भोजन के बाद विश्राम, पठन-पाठन, धर्म-चर्चा आदि ।

७. तीन प्रहर दिन के बाद पुनः प्रतिलेखन ।

८. चतुर्थ प्रहर में पुनः भिक्षा के लिए जाना। सूर्यास्त से पूर्व भोजन-पानी से निवृत्त हो जाना।

९. सूर्यास्त के पश्चात् गुरु-वन्दना कर प्रतिक्रमण करना।

१०. स्वाध्याय और ध्यान करना तथा जिज्ञासु भाई-बहिनों को धर्म समझाना, प्रवचन करना ।

११. प्रहर रात्रि के बाद शयन ।

जैन मुनियों की यह सामान्य दिनचर्या है। कुछ मुनि अपना अधिकांश समय ध्यान में, कुछ स्वाध्याय में, कुछ साहित्य-सृजन में और कुछ धर्म-चर्चा में बिताते हैं। कुछ मुनि तपस्या में अधिक रस लेते हैं और कुछ मुनि धर्म-प्रचार में। जैन मुनि का मुख्य उद्देश्य होता है - स्व-कल्याण। वे स्व-कल्याण के साथ-साथ पर-कल्याण के लिए हजारों मील की पैदल-यात्रा करते हैं। जैन मुनि जातिवाद में विश्वास नहीं करते। जैन परम्परा में सभी जाति के व्यक्ति दीक्षित हो सकते हैं

प्रश्न :

१. दीक्षा कब ली जाती है ?

२. जैन दीक्षा सावधिक होती है या निरवधिक ?

३. पांच महाव्रतों के नाम बताओ ।

४. समिति और गुप्ति में क्या अन्तर है ?

५. अपरिग्रह का अर्थ क्या है ?

६. जैन मुनियों की दिनचर्या के सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी दें।

१९

रात्रि भोजन और जैन धर्म

मानव जीवन के लिए भोजन आवश्यक है। बिना भोजन किये मनुष्य का जीवन टिक नहीं सकता। मनुष्य अन्न का कीड़ा है । पर भोजन करने की भी सीमा होती है। जीवन के लिए भोजन है, न कि भोजन के लिए जीवन। खेद की बात है कि आज के युग में भोजन के लिए जीवन बन गया है। आज का मनुष्य भोजन पर मरता है। खाने-पीने के सम्बन्ध में सब नियम प्रायः भुला दिये गए हैं। जो कुछ भी अच्छा बुरा सामने आता है, मनुष्य उसे खा जाना चाहता है। न मांस से घृणा है, न मद्य से। न भक्ष्य का पता है, न अभक्ष्य का। धर्म की बात तो रहने दीजिए, आज तो भोजन के फेर में अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान नहीं रखा जा रहा है।

आज का मनुष्य प्रातःकाल बिस्तर से उठते ही खाने लगता है और दिन-भर पशुओं की तरह चरता रहता है। घर पर खाता है, मित्रों के यहां खाता है, बाजार में खाता है और तो क्या दिन छिपते खाता है, रात को खाता है और बिस्तर पर सोते-सोते भी कुछ न कुछ खाद्य पदार्थ मुंह में डाले बिना नहीं रहता। पेट है या कुछ और ? दिन रात इस पेटरुपी गड्ढे की भरती होती रहती है, फिर भी संतोष नहीं।

भारत के प्राचीन शास्त्रकारों ने भोजन के सम्बन्ध में कुछ बड़े ही सुन्दर नियमों का विधान किया है। भोजन में शुद्धतर, पवित्रता, स्वच्छता और स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए, स्वाद का नहीं। मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों से तो सर्वथा घृणा रखनी ही चाहिए। भूख के बिना भोजन का एक कौर भी पेट में डालना पापमय अन्न का भक्षण करना है। भूख लगने पर दिन में दो-तीन बार से

अधिक भोजन नहीं करना चाहिए और रात में तो भोजन करना कभी भी उचित नहीं ।

जैन धर्म में रात्रि भोजन के निषेध पर बहुत जोर दिया गया है। प्राचीन काल में तो रात्रि-भोजन न करना जैनत्व की पहचान के लिए आवश्यक था। बात है भी ठीक । जैन वह कैसा जो रात्रि में भोजन करे और बिना छाना जल पीये ! रात्रि में भोजन करने से जैन धर्म में हिंसा का दोष बताया गया है। बहुत से इस प्रकार के छोटे और सूक्ष्म जीव होते हैं जो दिन में सूर्य के प्रकाश में तो दृष्टिगोचर हो जाते हैं, किन्तु रात्रि में किसी तरह भी दिखलायी नहीं देते । अतएव वे सूक्ष्म जीव भोजन में गिरकर जब दांतों के नीचे पिस जाते हैं और भोजन के साथ पेट में पहुंच जाते हैं तो वे बड़ा अनर्थ करते हैं।

आज के युग में कुछ मनचले लोग तर्क किया करते हैं कि रात्रि में भोजन करने का निषेध सूक्ष्म जीवों के दिखलायी न देने के कारण ही किया जाता है न ? हम दीपक जला लें, और प्रकाश कर लें फिर तो कोई हानि नहीं ? उत्तर में कहना है कि दीपक आदि के द्वारा हिंसा से बचा नहीं जा सकता। दीपक, गैस, बिजली और चन्द्रमा आदि के प्रकाश सूर्य के प्रकाश जैसे सार्वत्रिक, अखंड, उज्ज्वल और आरोग्यप्रद नहीं है। जीव-रक्षा और स्वास्थ्य की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश ही सबसे अधिक उपयोगी है और कभी-कभी तो विशेषकर गर्मी और बरसात के दिनों में यह देखा गया है कि दीपक आदि का प्रकाश होते ही इधर-उधर से कितने ही जीव-जंतु और अधिक एकत्रित हो जाते हैं, फलतः भोजन करते समय उनसे बचना बड़ा ही कठिन कार्य हो जाता है।

जैन धर्म त्याग-मूलक धर्म है। त्याग-धर्म का मूल संतोष में है। इस दृष्टि से सूर्यास्त के बाद दिन की सभी प्रवृत्तियों के साथ-साथ भोजन की प्रवृत्ति को भी समाप्त कर देना चाहिए। ऐसा करने से अपने

को तथा अन्य कुटुम्बीजनों तथा नौकर-चाकरों को भी संध्या के समय धर्म-सेवन, शास्त्र-पठन श्रवण, तत्त्व चर्चा, सामायिक करने, विश्राम करने, जाप आदि शुभ ध्यान के लिए अवसर प्राप्त हो सकेगा। रात्रि-भोजन-त्याग से निद्रा भली-भांति आती है। ब्रह्मचर्य पालन करने में सहायता मिलती है और सब प्रकार से आरोग्य की वृद्धि होती है।

जैन धर्म का यह नियम पूर्णतया आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दृष्टि को लिए हुए है। शरीर शास्त्र के ज्ञाता भी रात्रि-भोजन को बल, बुद्धि और आयु के लिए हानिकारक बतलाते हैं। रात्रि में हृदय और नाभिकमल संकुचित हो जाते हैं, अतः भोजन का परिपाक अच्छी तरह नहीं हो पाता। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार भोजन करने के तीन घंटे के पश्चात् जब खाये हुए भोजन का परिपाक होने लगे तब शय्या पर सोने का विधान किया गया है। धर्मशास्त्र और वैद्यक शास्त्र की गहराई में न जाकर यदि हम साधारण तौर पर होने वाली रात्रि भोजन की हानियों को देखें तब भी यह सर्वथा अनुचित ठहरता है।

रात्रि भोजन अंधों का भोजन है। एक-दो नहीं, हजारों ही दुर्घटनाएं देश में रात्रि भोजन के कारण होती हैं। कितने ही व्यक्ति अपने जीवन से हाथ धो बैठते हैं। प्रायः समाचार पत्रों में प्रकट होते रहते हैं कि कहीं चाय की केतली में छिपकली गिर जाने से चाय पीने वालों का मरण हो गया। कहीं किसी दावत में पकते हुए भोजन के साथ सर्प आदि के रंध जाने के कारण मनुष्यों का मरण पढ़ने में आता है। जिस तरह रात्रि भोजन सब प्रकार से त्याज्य है उसी प्रकार रात्रि का बना भोजन भी सब प्रकार से त्याज्य है।

अन्य धर्मों में भी इसे आदर की दृष्टि से नहीं देखा गया है। कर्मपुराण आदि वैदिक ग्रंथों में भी रात्रि भोजन का निषेध है। महात्मा गांधी भी रात्रि भोजन को अच्छा नहीं समझते थे। करीब ४० वर्ष से

जीवन पर्यंत रात्रि भोजन के त्याग के व्रत का गांधीजी बड़ी दृढ़ता से पालन करते रहे। यूरोप में गये तब भी उन्होंने रात्रि भोजन नहीं किया।

सारांश यह है कि प्रत्येक अहिंसा धर्म-पालक, दृढ़व्रती, निरामिष आहारी का यह कर्तव्य है कि वह रात्रि भोजन का त्याग कृत, कारित व अनुमोदना रूप से करे।

प्रश्न :

१. रात्रि-भोजन की हानियां बताओ ।

२. रात्रि-भोजन करने से पाप किस प्रकार होता है?

३. रात्रि के समय बिजली आदि के तेज प्रकाश में भोजन करने से दोष लगता है क्या ? यदि लगता है तो क्यों और कैसे ?

४. महात्मा गांधी ने कितने वर्ष रात्रि भोजन नहीं किया ?

२०

मांस भक्षण से हानियां

आज सर्वसाधारण की प्रवृत्ति निरन्तर पाप की ओर बढ़ रही है, धर्म की ओर से हटती जा रही है। स्वार्थ-साधना के लिए हम बड़े से बड़ा पाप करने को भी तैयार हो जाते हैं। अपना क्षुद्र स्वार्थ सिद्ध करने के लिए हम दूसरे का सर्वनाश करने में तनिक भी संकोच नहीं करते । हम स्वाद-लोलुपी हो गए हैं। हम दूसरों को अधिक कष्ट पहुंचाकर भी शक्ति संचय करना चाहते हैं । अपने को जीवित रखना चाहते हैं। दूसरों का घर जलाकर उसकी अग्नि में तपना चाहते हैं। हिंसक-वृत्ति बढ़ती जा रही है। हम अपने को सर्वश्रेष्ठ समझकर बेजुबान पशुओं के गले पर छुरा रखकर अपना स्वास्थ्य सुधारना चाहते हैं। दूसरों की जान लेकर उनका मांस काटकर अपना मांस बढ़ाना चाहते हैं। यह कितना निन्दनीय कृत्य है।

मांस भक्षण मनुष्य के कोमल हृदय की भावनाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर उसे पूर्णतया निर्दयी और कठोर बना देता है। मांस चलते-फिरते जीवित प्राणियों को मारकर उनके शरीर से प्राप्त होता है। जब मनुष्य अपने शरीर में लगे जरा से कांटे की पीड़ा भी सहन नहीं कर सकता, छटपटाता रहता है, तब बेचारे मूक जीवों की गर्दन पर छुरी चलाना किस प्रकार न्याय-संगत हो सकता है ? शान्तचित्त और ईमानदारी के साथ कल्पना करें कि उनको कितनी भयंकर पीड़ा और कष्ट का अनुभव होता होगा ? भगवान् महावीर ने कहा - जब किसी जीव को हम जीवन नहीं दे सकते तो हमें अपने स्वाद के लिए उसके प्राण लेने का क्या अधिकार है ? दूसरे के प्राणों का हनन करना जघन्य और निन्दनीय आचरण है।

साधारण आहार-विहार में होने वाली साधारण-सी हिंसा भी जब निन्दनीय मानी जाती है तब स्थूल पशुओं की हत्या करना तो और भी भयंकर हिंसा है। यही नहीं, मांसाहार मनुष्य का प्राकृतिक भोजन भी नहीं है। मनुष्य की दांतों और आंतों की बनावट इसकी साक्षी है। मांसाहार से वह बल और शक्ति भी प्राप्त नहीं होती जो दूध और फलाहार से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त मांसाहार तामसिक है, उससे मनुष्य की सात्त्विक वृत्तियों को आघात लगता है, शुद्ध विचारधारा नहीं रह पाती।

कुछ लोग कहते हैं जैन धर्मानुसार जल, वनस्पति आदि सभी जीवों के कलेवर ही हैं तो फिर निरामिषभोजियों को वनस्पति वगैरह भी नहीं खानी चाहिए। पर, यहां उनके समझने की भूल है। जो सप्तधातु युक्त कलेवर होता है, उसको ही मांस की संज्ञा दी गयी है। वनस्पति में सप्तधातु नहीं पायी जाती, अतः उसकी संज्ञा मांस नहीं है। इसी प्रकार कुछ लोग स्वयं मरे हुए प्राणी का मांस खाने में दोष नहीं बतलाते। यह ठीक है कि जिस प्राणी का वह मांस है, उसे मारा नहीं गया, किंतु मांस में तत्काल अनेक सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, अतः मांस-भक्षण से जो बुराईयां उत्पन्न होती हैं उनसे मनुष्य कभी नहीं बच सकता। जिसको मांस खाने का चसका पड़ जाता है उसकी बुद्धि दुष्ट पक्षियों के समान दूसरे पक्षियों को मारने की हो जाती है।

हमारे देश के महान् नेता राष्ट्रपिता महात्मा गांधी पूर्णतया शाकाहारी थे, जिन्होंने अपने साथ अहिंसा और सत्य का संबल लेकर अपने आत्मबल से भारत को पूर्ण स्वतंत्रता दिलायी ।

आजकल तो यूरोप और अमरीका में भी कितनी ही ऐसी समितियां स्थापित हो गई हैं जो मांसाहार का पूर्ण रूप से डटकर वैज्ञानिक दृष्टि से निषेध करती हैं और शाकाहार का प्रचार करती हैं। पश्चिम में डॉक्टरों का एक ऐसा बड़ा समुदाय उत्पन्न हो गया है, जिसका दृढ़ मत

है कि मानव-शरीर की रचना पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि वह शाकाहारी ही है। मनुष्य के दांत, अमाशय, आंत आदि उनको शाकाहारी ही बतलाते हैं। मारगेरेट हास्पिटल ब्रामले के प्रसिद्ध डॉक्टर जोशिया ओल्डफील्ड डी. सी. एल. आदि का कथन है कि आज के विज्ञान के द्वारा यह निर्णय हो गया है कि मनुष्य की गणना मांसाहारियों में नहीं किन्तु शाकाहारियों में है। इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि वनस्पति (गेहूं, चने, चावल, मकई आदि अन्न तथा शाक-सब्जी, फल आदि) में वह सब कुछ है, जो मनुष्य के पूर्ण जीवन को स्थिर रखने के लिए आवश्यक है। मांस निश्चयतः अप्राकृतिक भोजन है और इसीलिए शरीर में अनेकों उपद्रव उत्पन्न करता है। आजकल की सभ्य कहलाई जाने वाली जनता मांस-भक्षण करके कैंसर, क्षय, ज्वर, उदरकृमि आदि अनेक भयंकर और संक्रामक रोगों की अधिकाधिक शिकार होती जा रही है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मांसाहार उन भयानक रोगों के कारणों में से एक प्रमुख कारण है जिनका ९९ प्रतिशत आज प्रसार हो रहा है।

एक अन्य प्रोफेसर जी सिम्सवुड हैड, एम. डी. एफ. आर. पी. सी., एन. आर. ए., प्रोफेसर ऑफ पैथालॉजी केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी ने एक बार अपने भाषण में बतलाया कि -

'पूर्ण स्वास्थ्य-सम्पन्न जीवन व्यतीत करने के लिए मांस बिल्कुल अनावश्यक है। केवल शाकाहार पर ही निर्भर रह कर बढ़िया काम किया जा सकता है।'

सामिष भोजन त्याज्य है

जहां एक ओर नशे की आदत बढ़ रही है, वहीं लोग-बाग भारत में अंडा चिकन सूप, मछली आदि सामिष भोजन अर्थात् मांसाहार की ओर भी अग्रसर हो रहे हैं। यह एक विडम्बना ही है कि जहां विदेशों में नैतिकता या स्वास्थ्य के प्रति जागरुकता के कारण जगह-जगह लोग

मांसाहार से शाकाहार की ओर आ रहे हैं और वहीं इस देश में फैशन के कारण कहिये या अज्ञानता के कारण युवकों में और विशेषकर कॉलेज में पढ़ने वाले व्यक्तियों में मांसाहार की प्रवृत्ति बहुत तेजी के साथ बढ़ रही है। वे चोरी-छिपे आमलेट, चिकन, सूप आदि का सेवन करते हैं। जहां एक ओर यह अध्यात्म और धर्म के विरुद्ध आचरण है, वहीं सामिष भोजन अर्थात् मांसाहार नैतिकता की दृष्टि से एकदम गलत है। महाभारत में स्पष्ट लिखा गया है कि जो व्यक्ति मांसाहार करता है, बेचता है, खरीदता है या उसके क्रय-विक्रय में सहायक होता है वह भी मांसाहारी है। इस नैतिक सिद्धांत के कारण ही पाश्चात्य देशों के महान मानव जैसे-सुकरात, अरस्तु, प्लेटो, रूसौ, शैक्सपियर, डार्विन, न्यूटन, आइंस्टीन, टाल्सटॉय जार्ज बनार्ड शॉ, चर्चिल आदि पूर्णतः शाकाहारी बन गए।

अण्डा भी स्वास्थ्यवर्द्धक नहीं

आजकल प्रायः यह सुनने में आ रहा है कि बच्चों को अण्डे आदि सेवन से अधिक स्वस्थ बनाया जा सकता है। यह एक भ्रांति है, जिसका निराकरण सन् १९८५ के नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ. माइकल एस. ब्राउन तथा डॉ. जोसेफ एल. गोल्डस्टीन नामक दो अमेरिकन डॉक्टरों ने किया। जब उन्होंने यह साबित कर दिया कि हृदय के रोग के कारण ही अधिकांशतः मौतें होती हैं। उनके अनुसार कोलेस्टेरोल नामक तत्व को रक्त में जमने से रोकना बहुत आवश्यक है और कॉलेस्टेरोल अंडों में सबसे अधिक मात्रा में अर्थात् १०० ग्राम अण्डे में लगभग ५०० मि.ग्रा. पाया जाता है। यह वनस्पतियों एवं फलों में नहीं के बराबर होता है, परन्तु मांस, अंडों और जानवरों से प्राप्त वसा में प्रचुर मात्रा में होता है। अब यह भी सिद्ध हो गया है कि अंडा सुपाच्य नहीं है। बल्कि अंडे के छिलके पर लगभग १५००० सूक्ष्म छिद्रों के द्वारा कई जीवाणु अंडे में प्रवेश कर जाते हैं जो अंडे को खराब

कर देते हैं। इससे हृदय रोग शुरू हो जाता है। इससे गुर्दे के रोग एवं पथरी जैसी बीमारियों को बढ़ावा मिलता है। यही कारण है कि 'इंटरनेशनल वेजिटेरियन यूनियन' एवं शाकाहारी संस्थाओं द्वारा शाकाहार को विदेशों में बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा जा रहा है।

शाकाहार पौष्टिक एवं स्वास्थ्य प्रदायक आहार है

कई बार मांसाहार के पक्ष में यह भी तर्क दिया जाता है कि पौष्टिकता और बच्चों में अधिक ताकत दिलाने की दृष्टि से उन्हें मांसाहार कराया जाना चाहिए । लेकिन यह बात सही नहीं है। प्रोटीन, कैलोरी और कार्बोहाइड्रेट आदि की दृष्टि से स्वास्थ्य के लिए शाकाहार पौष्टिक आहार है। जैसे प्रति १०० ग्राम खाद्य में दालों में २४ प्रतिशत प्रोटीन व सोयाबीन में ४३ प्रतिशत प्रोटीन होती है, वहां अंडे में कुल १३ प्रतिशत व अन्य मांस में १८ से २२ प्रतिशत तक प्रोटीन होती है। विशुद्ध शाकाहारी जानवर मांसाहारी जानवरों की तुलना में अधिक शक्तिशाली हैं जैसे - घोड़ा, गेण्डा व हाथी। मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार विभिन्न रोगों की रोकथाम में अधिक सहायक सिद्ध हुआ है। विश्व स्वास्थ्य संघ ने ऐसी १६० बीमारियों के नाम अपने समाचार पत्र में घोषित किए हैं जो मांसाहार से फैलती है। इन बीमारियों में मिर्गी की बीमारी प्रमुख है। मानव पर सैकड़ों प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि पशुओं वाली चिकनाई से रक्त में 'कॉलेस्टेरोल' की मात्रा बढ़ जाती है और वनस्पति की चिकनाई उसे कम करती है । इस बात के लिए प्रचुर प्रमाण यह है कि 'आर्टिरियोस्कलेरोसिस' तथा 'कोरोनरी हृदय रोगों में कोलेस्टेरोल बड़ा कारण है। लॉस एजिल्स (अमेरिका) के डॉ. मरिसन का कथन है कि कोलेस्ट्रॉल से अन्य कितने ही मानव रोग उत्पन्न होते हैं, यथा - पथरी । शरीर विज्ञान से संबंधित प्रयोगशाला के डॉक्टर मूर ने यह प्रदर्शित किया है कि मांसाहार से हृदय का क्रिया-कलाप बढ़ जाता है। इसी प्रकार रक्तचाप, आर्टरी की कठोरता और

गुर्दे के रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के लिए भी मांसाहार हानिकारक है। स्वास्थ्य के प्रेमियों के लिए अपने स्वयं के स्वास्थ्य हेतु यह आवश्यक है कि वे अंडे और अन्य मांसाहारी पदार्थों का सेवन कतई न करें। आर्थिक दृष्टि से भी मांसाहार देश के लिए घातक ठहरता है। गाय, भैंस, बकरी आदि देश के लिए ही उपयोगी पशु हैं। मांसाहार के द्वारा इनका संहार देश के लिए अत्यंत हानिकारक और भयंकर है। भारत एक कृषि प्रधान देश है। इस अपेक्षा से भी गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं का वध विशेष रूप से हानिकारक है।

इस प्रकार धार्मिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक तथा स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियों से मांसाहार सर्वथा हेय है। मनुष्य मात्र का परम कर्तव्य है कि मांस-भक्षण का सदैव के लिए त्याग कर दे। जैन धर्म में तो इसका सर्वथा ही निषेध है।

प्रश्न :

१. मांसाहार की हानियां अपने शब्दों में बताओ।

२. क्या मांसाहार मनुष्य के लिए आवश्यक और अनिवार्य है ?

३. क्या वनस्पति-आहार में भी मांस-भक्षण का दोष आता है ?

४. पश्चिमी वैज्ञानिक विद्वानों का मत मांसाहार के सम्बन्ध में क्या है ?

२१

मादक द्रव्य और उनसे होने वाली हानियां

"बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं, मदाकारि यदुच्यते"

जो वस्तु बुद्धि को नष्ट करती है, उसे मदकारक (नशा) कहते हैं। बुद्धिविहीन मनुष्य, मनुष्य नहीं रहता। बुद्धि के नष्ट होने पर हिताहित की भावना समाप्त हो जाती है। बुद्धि का विनाश होने से मनुष्य मदोन्मत्त या पागल हो जाता है। विवेक नष्ट हो जाता है। मादक द्रव्यों से बढ़कर संसार की हानि किसी दूसरी वस्तु से नहीं हुई। मादक द्रव्य अनेक हैं, उनमें मदिरा सबसे बढ़कर है। मदिरा को पुराणपुरुषों ने मल-मूत्र के समान अभक्ष्य ठहराया है। इसका पीना ही नहीं, छूना भी महापाप समझा जाता था।

आज उन्हीं नशीले और गन्दे पदार्थों को युवा, बाल, स्त्रियां, सभी शिक्षित-अशिक्षित सेवन करते दिखायी देते हैं। यहां शराब ही नहीं, चाय, कहवा, कॉफी, कोका, अफीम, कोकीन, सुल्फा, गांजा, चण्डू, सिगरेट, बीड़ी, हुक्का, सिगार, गुटका आदि अनेक नशीले पदार्थों की भरमार है। घर में, गली में, सड़क पर, दुकान पर, स्कूल, मंदिर, मस्जिद, कचहरी में, यहां तक कि टट्टी तक में बीड़ी-सिगरेट के धुएं की धुआंधार है।

पंडित, मौलवी, शिष्य, गुरु, उपदेशक, प्रोफेसर, वकील, भक्त, राजकर्मचारी, सुधारक, नेता सभी तम्बाकू के उपासक बने हुए हैं। यदि कोई भूला-भटका न भी पीता हो तो उसे पीने वाले धुआं छोड़कर बलात् नाक के द्वारा पिला ही देते हैं। देश का दिमाग सिगरेट आदि के धुएं से उड़ रहा है और दिल धीरे-धीरे इसके विषमय धुएं से निर्बल बनकर बैठता जा रहा है। फिर इस देश की रक्षा कौन करे ? भगवान् ही

रक्षक हैं। जहां हमारे देश को धनाभाव के कारण दूसरों का मुंह ताकना पड़ता है, वहां व्यर्थ प्रतिदिन करोड़ों रुपया इन नशीली वस्तुओं के उपयोग में अपव्यय किया जाता है।

तम्बाकू

आज मनुष्य-जाति को तम्बाकू का नशा तो सबसे अधिक प्रिय है। कोई इसे सूंघता है, कोई इसे खाता है, तो कोई इसे पीता है और कोई इसे चबाता है । जिस देश के निवासी के पास न तन ढकने को वस्त्र है और न पेट की ज्वाला शांत करने के लिए अन्न है, वह देश आज भी इस भयंकर विष को खाने और पीने में तल्लीन है।

मनुष्य-जाति के लिए वह दिन सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण दिन था जिस दिन तम्बाकू के इस विषैले पत्ते का खान-पान मनुष्य ने प्रारम्भ किया। मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और केवल मनुष्य ही इस विषय का सेवन करता है। यह मूर्खता मनुष्य के हिस्से में आयी जो वह अपने परम शत्रु को भी हितैषी मान बैठा । तम्बाकू पीने से मनुष्य रोगों का केन्द्र बन जाता है। इसके पीने से पित्त, कफ, वायु दूषित होकर नेत्र ज्योति, पाचनशक्ति और पुंसत्व का ह्रास होता है, दांतों की कान्ति जाती रहती है । मुंह और छाती आदि अंग भयंकर विष से निर्बल होकर खांसी, दमा, राजयक्ष्मा (तपेदिक) से ग्रसित हो जाते हैं।

तम्बाकू पीने वाला जब इस नशे की कुटेब का अभ्यस्त हो जाता है तो वह निर्लज्ज होकर अनमोल समय और चरित्र पर कुठाराघात करता है। वाल्यावस्था में इस दुर्व्यसन के लग जाने से शीघ्र ही असमय में ही कुवासनाएं भड़क उठती हैं । तम्बाकू में निकोटिन नाम का विष होता है जो मनुष्य के शरीर में पहुंचकर भयंकर रोग उत्पन्न करता है। इससे हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। चाहे खाने , सूंघने, किसी भी रीति से तम्बाकू का उपयोग करे, वह हर अवस्था में हानिप्रद है। तम्बाकू पीने वाले कहते हैं - 'इसके सेवन से भोजन शीघ्र पच

जाता है और शौच खुलकर आता है।' उनका यह कहना भ्रमपूर्ण है, क्योंकि तम्बाकू के सेवन से दांत निर्बल हो जाते हैं, उनसे अन्न ठीक तरह नहीं चबाया जाता, चबाकर न खाने से भोजन बड़ी कठिनाई से पचता है। पाचन न होने से मन्दाग्नि हो जाती है जिससे भूख नहीं लगती। टट्टी खुलकर नहीं आती। परिणामस्वरूप अन्त में मृत्यु-मुख में जाकर ही शांति मिलती है।

शराब

तम्बाकू के समान शराब भी हमारे जन-समुदाय के लिए बड़ी दुःखद बनती जा रही है।

शराब आमाशय द्वारा रस उत्पन्न करने वाले अंश पर बुरा प्रभाव डालती है, जिससे अजीर्ण रोग की उत्पत्ति होती है। शराब में जो 'अल्कोहल' होता है उससे दिमाग और शरीर में उत्तेजना उत्पन्न होती है, शराबी इसे बल और शक्ति समझता है, किन्तु यह उसकी भूल है। शराब के नशे में वह समझता है कि मेरे अन्दर नयी शक्ति का संचार हो गया है, किन्तु इस अलकोहल से बाह्य शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। शारीरिक क्रिया सुस्त और ढीली पड़ जाती है। बल का भंडार शरीर का सारा वीर्य शराब की गर्मी से पतला हो जाता है। शराब से थकावट अनुभव करने वाली शक्ति मारी जाती है जिससे स्वास्थ्य का नाश हो जाता है। जो लोग थोड़ी मात्रा में भी शराब पीते हैं वे न पीनेवालों से पहले ही मर जाते हैं।

बहुत-सी बीमा कम्पनियां शराब पीने वालों को अपना सदस्य नहीं बनातीं। उनका अनुभव है कि शराबी शराब न पीने वालों से २५ प्रतिशत अधिक मरते हैं। इनके पीने से मनुष्य बल, कान्ति, ओज से रिक्त हो जाता है। शराब मनुष्य को चोर, जार, जुआरी और मांसाहारी बना देती है। संसार में ऐसा कौन-सा पाप है जो पीने वाले से नहीं कराती है? लोक-परलोक दोनों बिगाड़ती है।

हमारे देश में इस पापिन शराब ने कितने ही धनसम्पन्न घरों को ऋणी और दरिद्र बना दिया। कितनों के जमीन, मकान, जायदाद बिकवा दिये। कितने नवयुवक असमय में ही परलोक कूच कर गये। आये दिन विषैली शराब से मरने वालों की खबर समाचार-पत्रों में पढ़ते रहते हैं। इसके कारण देश में लाखों अनाथ और विधवाएं मारी-मारी फिरती हैं। इस शराब ने राजपूतों का राज्य और यवनों का ताज छिनाया। आज प्रताप और शिवाजी की वीर-भूमि में वीर राजपूत एवं मराठा जाति शराब आदि नशों में फंसकर सर्वथा निर्बल बन गयी है। आज हमें राणा प्रताप के समान डेढ़ मन का भाला उठाने वाला कोई भी दिखायी नहीं देता है।

प्रश्न :

१. नशीली वस्तुएं कौन-कौन-सी है ?

२. तम्बाकू और शराब में कौन-सा विषैला पदार्थ होता है ?

३. क्या तम्बाकू और शराब के सेवन से हमारा देश निर्बल बन रहा है ?

४. तम्बाकू पीने से कितने रोगों की उत्पत्ति होती है ?

२२

प्रेक्षाध्यान : आधार और स्वरूप

(१) प्रेक्षाध्यान का अर्थ

प्रेक्षाध्यान का अर्थ समझने के लिए प्रेक्षा शब्द की उत्पत्ति पर विचार करना होगा। यह प्र+ईक्षा इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'ईक्षा' शब्द 'ईक्ष' धातु से निष्पन्न हुआ है। उसका अर्थ है देखना। लेकिन 'ईक्ष' के पहले 'प' लगा हुआ है जिसके कारण प्रेक्षा शब्द बनता है और उनका शाब्दिक अर्थ हुआ गहराई में उतर कर देखना है।

प्रेक्षाध्यान का सूत्र है ''संपिक्खए अप्पगमप्पएणं''- आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना। स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। देखना ध्यान का मूल तत्त्व है इसलिए ध्यान की इस पद्धति का नाम प्रेक्षाध्यान रखा गया।

मनुष्य में चेतना पाई जाती है। यह चेतना क्रिया द्वारा व्यक्त होती है। जब तक व्यक्ति की चेतना शुद्ध रहती है, वह सब कुछ देख सकता है, जान सकता है। जब चेतना अशुद्ध हो जाती है तो सब कुछ देखने और जानने की शक्ति भी क्षीण हो जाती है। ध्यान के द्वारा शक्ति का जागरण किया जाता है।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें' -यह अध्यात्म चेतना के जागरण का सूत्र है। इसका अभ्यास हम शरीर से प्रारम्भ करते हैं। आत्म शरीर में है, इसलिए स्थूल शरीर को देखे बिना आगे नहीं देखा जा सकता। श्वास शरीर का ही एक अंग है। हम श्वास से जीते हैं, अतः हम पहले श्वास को देखें, फिर शरीर को देखें, शरीर में होने वाले हलचलों की प्रेक्षा करें। इससे चित्त पर छाई हुई संस्कार की वृत्ति छंटने लगती

है। हम आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की दिशा में अग्रसर हो जाते हैं।

(२) ध्येय

'चित्त को निर्मल बनाना' इसका लक्ष्य है, ध्येय है। प्रेक्षाध्यान के द्वारा व्यक्ति के भावों का परिष्कार किया जाता है और यह परिष्कार निर्मल चित्त में ही संभव है।

चित्त तो निर्मल ही रहता है, लेकिन क्रोध, मान, माया, लोभरूपी सभी कषायों के कारण यह मलिन हो जाता है। इस कारण उसकी जानने और देखने की शक्ति कम हो जाती है। जब चित्त निर्मल हो जाएगा तब हमारे ज्ञान चक्षु खुल जायेंगे और हम जानने और देखने लगेंगे। इससे हमें अपार आनंद एवं शांति का अनुभव होगा। लेकिन केवल आनंद प्राप्ति ही प्रेक्षाध्यान का लक्ष्य नहीं है। इसका मूल ध्येय है- चित्त की निर्मलता। उसके साथ-साथ यह व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास की परिकल्पना के साथ आगे बढ़ता है। इसके अतिरिक्त प्रेक्षाध्यान अनेक व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्ति करता है-

- ✻ बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन।
- ✻ कार्य-कौशल में वृद्धि ।
- ✻ मनःकायिक रोगों से मुक्ति ।
- ✻ मानसिक और भावनात्मक तनाव का विसर्जन।
- ✻ अनुशासन का विकास ।
- ✻ सहिष्णुता का विकास ।
- ✻ एकाग्रता में वृद्धि ।
- ✻ मैत्री भाव का विकास ।
- ✻ संकल्प शक्ति का विकास।

* आत्मविश्वास का जागरण।
* अन्तर्दृष्टि का विकास ।

(३) उपसम्पदा

प्रेक्षाध्यान के द्वारा चित्त को निर्मल बनाया जाता है, इस रूप में यह आध्यात्मिक साधना के रूप में भी जाना जाता है। आध्यात्मिक विकास के लिए हम प्रतिज्ञाबद्ध हों यह आवश्यक है। यही प्रतिज्ञा उपसम्पदा है। पूरे ध्यानकाल तथा जब तक हम ध्यान का अभ्यास करते हैं, उतने दिनों तक पूर्ण रूप में हमें इन प्रतिज्ञाओं का पालन करना होता है। यह उपसम्पदा निम्नलिखित सूत्रों के रूप में स्वीकार की जाती है :-

* अब्भुट्ठिओमि आराहणाए
  मैं प्रेक्षाध्यान की आराधना के लिए उपस्थित हुआ हूं।
* मग्गं उवसंपज्जामि
  मैं अध्यात्म साधना का मार्ग स्वीकार करता हूं।
* सम्मत्तं उवसंपज्जामि
  मैं अन्तर्दर्शन की उपसम्पदा स्वीकार करता हूं।
* संजमं उवसंपज्जामि
  मैं आध्यात्मिक अनुभव की उपसम्पदा स्वीकार करता हूं।

उपसम्पदाओं के इन सूत्रों की क्रियान्विति पांच चर्याओं के द्वारा होती है।

१. भावक्रिया, २. प्रतिक्रिया विरति, ३. मैत्री, ४. मिताहार और ५. मितभाषण ।

(४) एकाग्रता और प्रमाद

मन की शांति के लिए तथा चित्त को निर्मल बनाने के लिए प्रेक्षाध्यान का अभ्यास किया जाता है। ध्यान की सफलता के लिए साधक को अपने ध्येय के प्रति एकाग्र होना पड़ता है। वह जितना

अधिक अपने ध्येय के प्रति एकाग्र होगा उसकी जागरूकता उतनी ही ज्यादा बढ़ेगी, यही जागरूकता अप्रमाद कही जाती है। जागरूकता तथा एकाग्रता दोनों बढ़ाने के लिए व्यक्ति को गहन अभ्यास की आवश्यकता है। लगातार किसी एक आधार या आलम्बन पर अपना ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। ध्यान की इस प्रक्रिया में वह केवल जानने और देखने का उपक्रम करता है। उसका यह प्रयास बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता है।

ध्यान का स्वरूप है - अप्रमाद, चैतन्य का जागरण या सतत् जागरूकता। जो जागृत होता है वह अप्रमत्त होता है। जो अप्रमत्त होता है वही एकाग्र होता है। एकाग्रचित्त वाला व्यक्ति ही ध्यान कर सकता है। जो अपने अस्तित्व के प्रति प्रमत्त होता है - अपने चैतन्य के प्रति जागृत नहीं होता वह सब ओर से भय का अनुभव करता है। जो अपने अस्तित्व के प्रति अप्रमत्त होता है, अपने चैतन्य के प्रति जागृत होता है वह कहीं भी भय का अनुभव नहीं करता, सर्वथा अभय होता है।

प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग इस प्रकार हैं :-

(१) **कायोत्सर्ग** - शरीर की स्थिरता, शिथिलता तथा मानसिक जागरूकता की स्थिति का नाम ही कायोत्सर्ग है।

(२) **श्वास प्रेक्षा** - श्वास की गति-प्रगति का निरीक्षण करना ही श्वासप्रेक्षा है। ध्यान की इस प्रक्रिया में चित्त को श्वास पर केन्द्रित किया जाता है तथा आने और जाने वाले प्रत्येक श्वास की प्रेक्षा की जाती है। यहां श्वास को मंद और लम्बा बना दिया जाता है।

(३) **शरीर प्रेक्षा** - शरीर के प्रत्येक घटक पर क्रमशः चित्त को एकाग्र कर वहां होने वाली प्राणधारा के प्रकम्पनों को तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास शरीर प्रेक्षा है।

(४) **अर्हम् ध्वनि -** प्रेक्षाध्यान का प्रारम्भ अर्हं-ध्वनि के उच्चारण से किया जाता है। यह बीज-मंत्र है। यह परम सत्ता का द्योतक है। यह हमें हमारी अर्हता से परिचित कराता है।

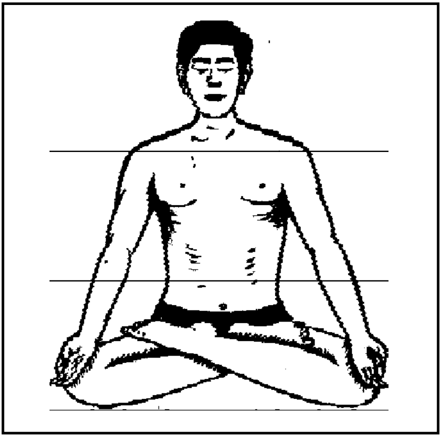

प्रश्न :

१. उपसम्पदा की क्रियान्विति की पांच चर्या का उल्लेख करें।
२. प्रेक्षाध्यान का सूत्र क्या है ?
३. प्रेक्षाध्यान का अर्थ क्या है ?
४. कायोत्सर्ग किसे कहते हैं ?
५. प्रेक्षाध्यान पर विस्तार से प्रकाश डालें।

२३
कायोत्सर्ग

१. कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग तनाव-विसर्जन की प्रक्रिया है। स्वस्थ रहने के लिए इस प्रक्रिया को सीखना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कायोत्सर्ग का अभ्यास दबाव द्वारा उत्पन्न हानिकारक प्रभावों को निष्फल करने के लिए किया जाता है। पदार्थ के किसी भाग पर जो भार या दाब पड़ता है, उसके कारण पदार्थ के आकार में परिवर्तन आ जाता है। यही चाप या भार उस पदार्थ के लिए दबाव कहलाता है। इसे तनाव भी कहा जाता है, क्योंकि तनाव के कारण भी व्यक्ति के आकार-प्रकार में परिवर्तन हो जाता है। जैसे सामान्य मनुष्य को जब क्रोध आता है तो उसकी मुखाकृति बदल जाती है, चेहरा लाल हो जाता है आदि। ये सभी परिस्थितियां व्यक्ति में आए तनाव की द्योतक है, अतः तनाव और दबाव को एक समझा जा सकता है।

२. तनाव और दबाव

व्यक्ति के सामान्य सुख-चैन पूर्ण जीवन में पैदा होने वाली गड़बड़ी, बेचैनी, जो भी परिस्थिति हमारी सामान्य जीवन-धारा को अस्त-व्यस्त कर दे, उसे तनाव कहते हैं। सर्दी-गर्मी, गुस्सा, मादक वस्तुओं के सेवन, उत्तेजना, दर्द, शोक और हर्ष ये सभी हमारे दबाव-तन्त्र को समान रूप से सक्रिय बनाते हैं। आधुनिक मनुष्य के मानस में पैदा होनेवाली ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, घृणा या भय के भाव, सत्ता और सम्पत्ति के लिए संघर्ष, लालसाएं, बहम भी दबाव तन्त्र को प्रवर्तित कर देते हैं। जब कभी इस प्रकार की तनावोत्पादक परिस्थिति किसी के सामने उपस्थित होती है, तुरन्त ही एक आन्तरिक तन्त्र स्वतः सक्रिय

हो उठता है।

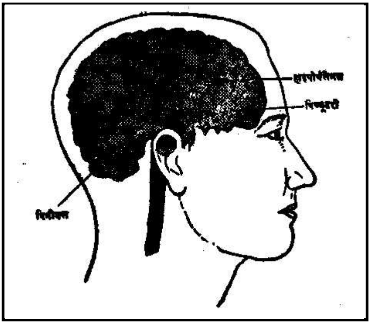

३. दबाव तन्त्र एवं शारीरिक स्थितियां

तनावपूर्ण स्थिति के उपस्थित होने पर शरीर के कुछ अंग सक्रिय होते हैं जिन्हें दबाव तन्त्र कहा जाता है। ये निम्न प्रकार के हैं -

(क) हाइपोथेलेमस (अवचेतक) :- यह नाड़ी तंत्र और ग्रंथि-तंत्र का संधि स्थल है। यह हमारे मस्तिष्क का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है। सामान्य रूप से चेतन मन के द्वारा जिन क्रियाओं का नियंत्रण नहीं होता उन सभी क्रियाओं का संयोजन अवचेतक करता है।

(ख) पीयूष ग्रंथि - इसे पिच्यूटरी ग्लैण्ड के नाम से भी जाना जाता है। यह अंतःस्रावी (एण्डोक्राइन ग्लेण्ड्स) की प्रधान ग्रंथि है, क्योंकि यह ग्रंथि अन्य ग्रंथियों का नियमन करती है। इसे मास्टर ग्लैण्ड भी कहा जाता है।

(ग) एड्रीनल (अधिवृक्क) : ये एड्रीनालीन (एपिनेफ्रीन) एवं अन्य हार्मोनों का स्राव करती है, जिनसे व्यक्ति तनावयुक्त एवं सावधान होता है।

(घ) स्वायत्त नाड़ी संस्थान का अनुकम्पी भाग - यह विपत्ति की स्थिति में व्यक्ति को आक्रमण के लिए या भागने के लिए अन्तिम रूप से तैयार करता है ।

शारीरिक स्थिति :- उपरोक्त तंत्र के संयुक्त क्रियाकलाप के द्वारा शरीर के भीतर घटित होनेवाली शारीरिक स्थिति का क्रम इस प्रकार होगा -

१. पाचन क्रिया मंद या बिल्कुल स्थगित हो जाती है।

२. लार-ग्रंथियों के कार्य-स्थगन से मुंह सूख जाता है।

३. चयापचय की क्रिया में तेजी ।

४. श्वास तेजी से चलने लगता है।

५. शरीर के जिन भागों में अधिक रक्त की अपेक्षा हो, वहां तक उसे पहुंचाने के लिए हृदय को अतिरिक्त कार्य करना पड़ता है।

६. रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है।

७. रक्तचाप बढ़ जाता है।

कायोत्सर्ग से तनाव-मुक्ति

कायोत्सर्ग के द्वारा तनाव से मुक्त हुआ जा सकता है। यह शिथिलीकरण की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें स्व-सूचना पद्धति का प्रयोग किया जाता है और तनावों से बचा जाता है।

प्रत्येक जीव के पास ऐसी आंतरिक संज्ञाएं होती हैं, जिनके आधार पर वह अपने आपको स्वस्थ, प्रसन्न रख सकता है। मनुष्य अपनी समस्याओं में इस तरह उलझ गया है कि वह इन देवी प्रदत्त गुणों को भूल गया, फलतः अस्वस्थ एवं अशांत रहने लगा। लेकिन कुछ ऐसे मनुष्य मिल जाते हैं, जिनमें अतीन्द्रिय शक्तियां पाई जाती हैं। प्राचीन काल में इन्हीं में से कुछ लोग आस्था-उपचार (जिसे आज सम्मोहन विधि कहते हैं) का प्रयोग करते थे । इस व्यवस्था में रोगी को शिथिलीकरण करवा कर या सम्मोहित कर स्वयं-सूचन चिकित्सा का प्रयोग किया जाता था । स्वयं-सूचन या आस्थापद्धति की यह प्रणाली चैतन्य के प्रति व्यक्ति के रुझान का परिणाम है। इसके द्वारा मनोरोगी की चिकित्सा की जाती थी।

आधुनिक काल में पुनः शिथिलीकरण के द्वारा मनोरोगों की चिकित्सा की जाने लगी है। इसे मेस्मेरिज्म या ओटोसजेशन के नाम से जाना जाता है। यह एक विशेष प्रकार की सुझाव चिकित्सा है। इसमें व्यक्ति स्वयं अपने सुझावों के द्वारा अपनी चिकित्सा करता है। इसमें व्यक्ति अपनी क्षमता का विकास कर अपने आप गहरी शिथिलावस्था जैसी स्थिति में आ जाता है और अपने थकान, तनाव, सिरदर्द आदि को कम कर सकता है।

कायोत्सर्ग कैसे करें

कायोत्सर्ग का अभ्यास तीन मुद्राओं में किया जाता है। जब खड़े होकर किया जाता है, तब उसे उत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं। जब बैठकर किया जाता है, तब उसे स्थित कायोत्सर्ग कहते हैं। जब लेटकर किया जाता है, तब शयन कायोत्सर्ग कहते हैं। इसे सुप्त कायोत्सर्ग भी कहते हैं।

साधारणतया कायोत्सर्ग लेटकर करने में सुविधा रहती है। कायोत्सर्ग कठोर सतह पर ही करना चाहिए। बिछाने के लिए दरी, कम्बल अथवा ऐसे ही किसी मोटे सूती वस्त्र के अतिरिक्त स्पंज आदि का इस्तेमाल न करें। कम्बल के ऊपर सीधा अर्थात् कमर व पीठ के बल लेटकर पैरों को फैलाएं। एड़ियों के बीच लगभग १२ इंच की दूरी रहे। हथेली आकाश की ओर खुली रखें। सिर को भूमि पर ऐसे रखें कि गर्दन में किसी प्रकार का तनाव न रहे। सिर को नीचे रखने में कभी कठिनाई प्रतीत होती हो, तो ऐसी स्थिति में तौलिया, चादर आदि किसी चीज के सहारे सिर को टिकाया जा सकता है। कुछ दिन के बाद तौलिया आदि को धीरे-धीरे हटा देना चाहिए।

अब श्वास को नियमित और लयबद्ध बनाएं। श्वास मन्द और शांत होना चाहिए। जब श्वास लें, तब पेट फूले और श्वास को छोड़ें तब पेट सिकुड़े। पैर के अंगूठे से सिर तक प्रत्येक मांसपेशी को शिथिल

करें। अपने चित्त को शरीर के प्रत्येक अंग पर ले जायें। बहुत ही शांति के साथ प्रत्येक भाग को शिथिल होने का सुझाव दें। इसका प्रारम्भ दायें पैर के अंगूठे से करें। छोटे-छोटे चरणों में प्रत्येक अवयव पर ध्यान केन्द्रित करते हुए बढ़ें। अंगूठे के बाद अंगुलियां, पंजा, तलवा, एड़ी, टखने की शिथिलता की ओर ध्यान दें। टखने से पिंडली, पिंडली से घुटने तक शिथिल करें। कमर के ऊपर पेड़ू, नाभि, पेट का पूरा भाग शिथिल करें। शरीर के भीतर के भाग जैसे- गुर्दे, आंतें, प्लीहा, यकृत, आमाशय, छाती का भीतरी भाग, कंधे, हाथ और गर्दन को शिथिल करें। अंत में कंठ से लेकर सिर तक जैसे- कंठ, ठुड्डी, होंठ, मसूड़े, जीभ, तालु, कपोल, नाक, कान, कनपटी, आंखें, ललाट, सिर प्रत्येक हिस्से की शिथिलता का अनुभव करें। धीरे-धीरे अभ्यास से सब अंगों को शिथिल करने में सफलता मिलेगी। आंखों को कोमलता से बंद रखें।

पैर से सिर तक इस प्रक्रिया को दोहरायें। यह ध्यान में रखें कि प्रत्येक भाग में शिथिलता का अनुभव होना चाहिए। जब सारा शरीर शिथिल हो जाये, तब तनावमुक्त स्थिति का अनुभव होगा।

कायोत्सर्ग का यह प्रयोग पूरा होने पर सभी मांसपेशियों व नाड़ियों को वापस सक्रिय होने का आदेश दें। शरीर के प्रत्येक भाग पर चित्त को एकाग्र करें। दीर्घ श्वास का प्रयोग करते हुए प्रत्येक अंग को सक्रियता का सुझाव दें। इस प्रकार सुप्त कायोत्सर्ग की प्रक्रिया पूरी होती है।

प्रश्न :

१. **कायोत्सर्ग का क्या अर्थ है ।**

२. **तनाव के कारण क्या है ?**

३. **तनावपूर्ण स्थिति होने पर शरीर के कुछ अंग सक्रिय होते हैं। वे कौन-से हैं ? उन पर प्रकाश डालें।**

४. **कायोत्सर्ग कैसे करें? संक्षिप्त में प्रकाश डालें।**

२४

श्वास प्रेक्षा

श्वास हमारे जीवन का आधार है। वायुमण्डल से ऑक्सीजन नामक गैस को ग्रहण करना तथा कार्बनडाईऑक्साइड नामक गैस को वायुमंडल में छोड़ना, यही श्वास है। हमारा शरीर कोशिकाओं से मिलकर बना है। कोशिकाओं में ऊर्जा के लिए निरन्तर ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है तथा ऊर्जा उत्पादन की क्रिया के साथ-साथ कार्बनडाईऑक्साइड पैदा हो जाती है, जिसको शरीर से बाहर निकालना अनिवार्य है। यदि इसे बाहर निकालने का अवसर न मिले तो इससे कोशिकाएं विषाक्त और मृत हो जाएंगी तथा कोशिकाओं के मृत होने का अर्थ है हमारी जीवनलीला की समाप्ति । इस तरह श्वसन हमारे लिए कितना महत्वपूर्ण है, यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है।

लेकिन व्यक्ति को श्वास-प्रक्रिया के संबंध में ठीक जानकारी नहीं है। श्वास-प्रेक्षा के द्वारा मानव की श्वास-प्रक्रिया के संबंध में सही आध्यात्मिक आयाम पर चिंतन किया जाता है।

१. श्वसन प्रक्रिया

श्वास की क्रिया नाक से प्रारम्भ होती है और फेफड़ों (फुफ्फुस) में समाप्त होती है, लेकिन इस प्रक्रिया में हृदय का भी योगदान रहता है। रक्त परिसंचरण द्वारा ऑक्सीजन गैस को सारे शरीर में पहुंचाया जाता है तथा कार्बनडाईऑक्साइड गैस को वापस फेफड़ों में पहुंचाया जाता है। रक्त संचरण की प्रक्रिया हृदय द्वारा सम्पादित होती है।

श्वसन-क्रिया में श्वास नाक से लेना चाहिए और मुंह बंद रखना चाहिए। ऐसा करने से हवा में रहे कीटाणु, धूलिकण तथा अन्य प्रदूषण नासिकाओं के भीतर रही हुई, श्लेष्माझिल्ली की स्निग्धता के

कारण तथा नाक में स्थित बालों के कारण वहां रोक दिए जाते हैं। श्वास लेते समय पेट फूलना चाहिए तथा श्वास बाहर छोड़ते समय पेट सिकुड़ना चाहिए। श्वास की प्रक्रिया में सामान्य रूप से एक श्वास के दौरान १/२ से १ लीटर हवा शरीर के अन्दर जाती है, लेकिन अभ्यास के द्वारा इस मात्रा को चार-पांच लीटर तक बढ़ाया जा सकता है। हममें से अधिकांश व्यक्ति छोटे-छोटे टुकड़ों में छिछला श्वास लेते हैं, जिसकी संख्या १५ से १६ प्रति मिनट होती है। प्रशिक्षण के द्वारा हम मंद एवं लम्बा श्वास ले सकते हैं और इसकी संख्या एक मिनट में चार या पांच तक घटायी जा सकती है। मंद श्वास से शरीर को कई फायदे होते हैं -

१. शरीर में होने वाली टूट-फूट की गति मंद हो जाती है।
२. हृदय के कार्य-भार में कमी हो जाती है।
३. रक्तचाप में अनावश्यक वृद्धि रुक जाती है।
४. स्नायविक शान्ति प्राप्त होती है।

२. श्वसन प्रक्रिया के सहायक अंग

श्वसन प्रक्रिया फेफड़ों द्वारा सम्पादित होती है लेकिन फेफड़े मांसपेशी रहित होते हैं, अतः श्वसन प्रक्रिया में अन्य मांसपेशियों का योगदान लेना पड़ता हैं। बिना इसके श्वसन की क्रिया संपन्न नहीं हो सकती। श्वसन प्रक्रिया में तनुपट (डायाफ्राम), अन्तर्पर्शुकीय मांसपेशी तथा हंसली की मांसपेशियों का सक्रिय रूप से योगदान मिलता है।

वक्ष
पसलियां
अन्तर्पर्शुकीय मांसपेशियां
उपरोस्थि
तनुपट

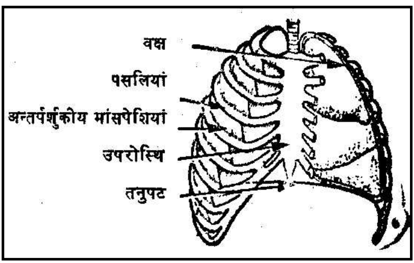

तनुपट श्वास-क्रिया में उपयोगी मांसपेशियों में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका आकार गुम्बज जैसा होता है। यह मांसपेशी वक्षीय गुहा के फर्श या तल के रूप में तथा उदरीय गुहा की छत के रूप में होती है। जब इसे संकुचित किया जाता है, यह उदरीय अंगों को नीचे की ओर दबाती है तथा वक्षीय गुहा के परिमाण को बढ़ाती है।

अन्तर्पर्शुकीय मांसपेशी - ये पसलियों के ऊपर और नीचे के छोर से संलग्न होती है। इन मांसपेशियों के संकुचित होने पर पसलियों का समूचा ढांचा ऊपर की ओर तथा बाहर की ओर फैलता है और इनके शिथिल होने पर वह उससे विपरीत दिशा में गति करता है अर्थात् संकुचित होता है।

हंसली की मांसपेशी - हंसली को ऊपर की ओर उठाकर इस मांसपेशी का संचालन किया जा सकता है। इस क्रिया के द्वारा फेफड़े के ऊपर के हिस्से में हवा का प्रवेश होता है।

३. श्वास और प्राण

श्वास और प्राण जीवन के लिए अनिवार्य तत्त्व हैं। श्वास भीतर जाता है और उसके साथ प्राण वायु भीतर जाती है। प्राण तत्त्व भी भीतर जाता है और प्राण- उर्जा के रूप में परिणमन होता है। हमारे जीवन का समूचा क्रम, हमारी सारी प्रवृत्तियां प्राण-शक्ति या प्राण-ऊर्जा के द्वारा संचालित होती है। यदि प्राण-ऊर्जा नहीं है, तो चेतना टिक नहीं सकेगी। बोलना, चलना, देखना, इन्द्रियों, मन और बुद्धि का क्रियाशील होना ये सब प्राण ऊर्जा के कार्य हैं। इनकी सक्रियता की पृष्ठभूमि में प्राण का प्रवाह कार्य करता है। शरीर, मन और इन्द्रियां अचेतन हैं, प्राण ऊर्जा का योग पाकर वे सभी सचेतन हो जाते हैं।

हम जितना गहरा श्वास लेते हैं, उतनी ही अधिक प्राण-शक्ति प्राप्त होती है। जब हम श्वास-प्रेक्षा द्वारा श्वास-दर्शन करते हैं, तब प्राण-शक्ति और बढ़ जाती है। जो यौगिक प्रदर्शन आज देखने में आते

हैं, वे सारे श्वास के स्तर पर घटित होने वाले प्राण-शक्ति के प्रदर्शन हैं। इसके आधार पर मोटर या ट्रक को छाती पर से गुजारा जा सकता है। आत्मा में अनंत शक्ति है। श्वास उस अनन्त शक्ति का अंश है।

योग के आचार्यों ने मन को वश में करने का एक उपाय बताया है। वह उपाय है - श्वास। श्वास को पकड़ते ही मन पकड़ में आ जाता है। तब मन इतना सरल सीधा हो जाता है कि उसकी चंचलता मिट जाती है।

४. दीर्घ - श्वास

श्वास दो प्रकार का होता है - सहज और प्रयत्नजनित। प्रयत्न के द्वारा श्वास में परिवर्तन किया जा सकता है। छोटे श्वास को दीर्घ बनाया जा सकता है। साधना को विकसित करने के लिए प्राण-शक्ति की प्रचुरता अपेक्षित होती है। प्राण-शक्ति के लिए श्वास का ईंधन जितना सशक्त होगा, प्राण-शक्ति उतनी ही सशक्त होगी और प्राण-शक्ति जितनी सशक्त होगी, हमारी साधना उतनी ही सफल होगी। श्वास को सशक्त बनाने के लिए ही हम उसे **'दीर्घ'** बनाते हैं।

सामान्य आदमी एक मिनट में १५-१७ श्वास लेता है। (इसके आस-पास दो स्थितियां बनती हैं। एक स्थिति है - श्वास की संख्या को बढ़ाने की और दूसरी स्थिति है श्वास की संख्या घटाने की। दूसरे शब्दों में एक स्थिति है, श्वास को छोटा करने की तथा दूसरी स्थिति है, श्वास को दीर्घ (लम्बा) बनाने की। ये दो स्थितियां बनती हैं, जो व्यक्ति साधनारत नहीं है, जो बहुत आवेगशील हैं, वे व्यक्ति उस दिशा में प्रस्थान करते हैं तो श्वास छोटा हो जाता है और उसकी संख्या बढ़ जाती है)

श्वास की संख्या १५-१७ से बढ़कर ३०-४०, ५०-६० तक बढ़ जाती है। आवेश में, कषाय में, वासना में श्वास की संख्या बढ़ जाती है। श्वास की संख्या बढ़ती है, श्वास छोटा होता है और

साथ-साथ प्राण-शक्ति पर उसका प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर भी उसका असर होता है। प्रेक्षाध्यान की साधना करने वाला व्यक्ति श्वास की गति व्यवस्थित करता है। वह श्वास की लम्बाई को बढ़ाता है, श्वास मंद हो, श्वास दीर्घ हो, श्वास लम्बा हो - यह साधक का प्रथम प्रयास होता है। इनके साथ-साथ आवेश शांत होते हैं तथा उत्तेजनाएं शांत होती हैं।

श्वास जब छोटा होता है, तब वासनाएं उभरती हैं, उत्तेजनाएं आती हैं, कषाय जागृत होते हैं या दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब ये उभरते हैं, श्वास छोटा हो जाता है। इन सबसे श्वास प्रभावित होता है। इन सब दोषों का वाहन है - श्वास । ये श्वास पर आरोहण करके आते हैं। जब कभी मालूम पड़े कि उत्तेजना आने वाली है, तब तत्काल श्वास को लम्बा कर दें, दीर्घ श्वास लेने लगें, आने वाली उत्तेजनाएं लौट आएंगी।

कभी-कभी व्यक्ति दीर्घ-श्वास को प्राणायाम की क्रिया समझ लेते हैं और इसे इसी रूप में करते भी हैं। यह एक प्रकार का प्राणायाम अवश्य है, लेकिन इससे और आगे भी है। इसके द्वारा व्यक्ति वृत्तियों का शमन, उत्तेजनाओं का शमन, वासनाओं का शमन कर सकता है। इसके साथ-साथ शारीरिक और मानसिक लाभ भी प्राप्त किया जा सकता है।

जब श्वास प्रेक्षा का सम्यक् अभ्यास किया जाता है तो साधक श्वास को दीर्घ करते-करते कुछ समय तक श्वासहीन स्थिति में पहुंच जाता है। इस स्थिति में वह वासना एवं उत्तेजना रहित हो जाता है। यही अध्यात्म की दिशा में बढ़ने का एक सही मार्ग हो सकता है।

समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा

श्वास-प्रेक्षा दो रूपों में की जाती है - १. दीर्घ श्वास प्रेक्षा और २. समवृत्ति श्वास प्रेक्षा । समवृत्ति श्वास प्रेक्षा में श्वास की

दिशा में परिवर्तन लाया जाता है। प्रक्रिया इस तरह से चलती है - एक नथुने से श्वास भीतर लेकर दूसरे नथुने से बाहर निकाला जाता है तथा फिर उसी से भीतर लेकर पहले नथुने से बाहर निकाला जाता है। यह परिवर्तन संकल्प शक्ति के द्वारा निष्पन्न हो सकता है। इस दौरान लगातार चित्त के साथ-साथ चलता है - श्वास भीतर, चित्त भीतर श्वास बाहर, चित्त बाहर । इसकी प्रेक्षा करता है।

समवृत्ति श्वास प्रेक्षा में नाड़ी संस्थान का शोधन होता है, ज्ञान शक्ति विकसित होती है और अतीन्द्रिय ज्ञान की सम्भावनाओं का द्वार खुलता है। जिस प्रकार दीर्घ श्वास प्रेक्षा शक्ति जागरण का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वैसे ही समवृत्ति श्वास प्रेक्षा भी शक्ति-जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। मनःकायिक चिकित्सक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि समवृत्ति श्वास के माध्यम से चेतना के विशिष्ट केन्द्रों को जागृत किया जा सकता है। दूर-बोध की उपलब्धि इससे संभव हो सकती है। समवृत्ति श्वास का सतत् अभ्यास अनेक उपलब्धियों में सहायक हो सकता है।

प्रश्न :

१. **श्वसन प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं ?**

२. **दीर्घ श्वास से आप क्या समझते हैं ?**

३. **समवृत्ति श्वास किसे कहते हैं ?**